मानव साहित्य सदन की पाँचवीं भेंट

भारतीय राष्ट्रीयता—

किधर ?

रघुवीरशरण दिवाकर

प्रकाशक
मानव साहित्य सदन
मुरादाबाद

मूल्य : एक रुपया
प्रथमावृत्ति
जून १९५१

मुद्रक
अरविन्द प्रेस
कोटद्वार

दो शब्द

भारतीय स्वतन्त्रता के इस आदि-युग में शताब्दियों से दबी हुई हमारी शक्तियों को उभरने का अवसर मिला है तथा दासता-जन्य भीषण क्षति को पूरा करने की उत्कट लालसा द्रुत गति से आगे बढ़ने और बढ़ते रहने के लिये प्रतिक्षण हमें प्रेरित कर रही है। पर साथ ही पीछे धकेलने वाली प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ भी सिर उठा रही हैं, धर्म और संस्कृति की लम्बी-चौड़ी दुहाई देकर, अतीत या प्राचीन की ओर लौटने का नारा बुलन्द कर तथा स्वकीयता व आध्यात्मिकता का उन्माद-भरा आग्रह कर, सम्प्रदायातीत लोकतंत्रात्मक राष्ट्र के नव-निर्माण की वृहद् समस्या को उलझा रही है और इस तरह बाहरी गुलामी के मिट जाने पर भी जिस भीतरी गुलामी ने सहस्राब्दियों में हमारे सामाजिक व राष्ट्रीय जीवन को जर्जर व खोखला बना रखा है, उसे अक्षुण्ण रखने के षड़यन्त्र व्यवस्थित व संगठित रूप से किए जा रहे हैं।

अनिवार्यतः प्रतिगामिनी शक्तियों का सब से बड़ा मित्र या सहायक है सहज मानवीय दौर्बल्य। यही कारण है कि

कुसंस्कार-जन्य अंधश्रद्धा, अविचार-जन्य मोह तथा दुर्वासना-जन्य अहम्मन्यता के भावों का सहारा लेकर अथवा दौर्बल्य-जन्य सभी मानवीय त्रुटियों या कमज़ोरियों से लाभ उठा कर सदा ही वे लम्बी-चौड़ी दुहाइयां देती और बड़ी-बड़ी बातें बनाती हैं। आज यही सब कुछ हो रहा है और एक बड़े पैमाने पर हो रहा है।

सचमुच बड़ा ही नाजुक समय है। हमारी राष्ट्रीयता चौराहे पर खड़ी है। वह किस पथ का अनुसरण करे यह समस्या उसके समक्ष है और इसके ठीक-ठीक हल होने में ही राष्ट्र का कल्याण है, विश्व-शांति की साधना अथवा मानवता की प्रतिष्ठा है।

यहाँ इसी समस्या पर कुछ विचार किया गया है और यह देखने का प्रयत्न किया गया है कि राष्ट्रीयता किधर जाए और किधर न जाए? जहाँ तक खतरनाक रास्तों पर उसे बहका ले जाने का प्रयास हो रहा है, इस पुस्तक में निश्चय ही उसे एक सुस्पष्ट चेतावनी दी गई है और यह अनुरोध किया गया है कि वह हरगिज़ न बहके, सर्वनाश की ओर न जाए, न जाए।

—दिवाकर





प्रतिक्रियावादी व प्रतिगामिनी शक्तियों से

मोरचा लेने वाले

वीर सेनानी

श्री. गोविन्द सहाय

को

— आदर व श्रद्धा के साथ —

—दिवाकर

क्या कहां है?



भारतीय राष्ट्रीयता—किधर ?

शताब्दियों की परतंत्रता के बाद अब हम स्वतन्त्रता की सांस ले रहे हैं, पर क्या हम कह सकते है कि हम पूरी तरह स्वतन्त्र है ? राजनैतिक स्वातन्त्र्य ही सब-कुछ नहीं है। यदि व्यक्ति व समाज के सर्वतोमुखी विकास के राज-मार्ग को अवरुद्ध करने वाली प्रतिगामी शक्तियों को मिटाने मे अथवा मानव-जीवन को तहस-नहस करने वाली भ्रान्त धारणाओं व झूठी विषमताओं को मिटा कर सहज स्वाभाविक व नैसर्गिक मानवीय समानता व भ्रातृत्व की मंगलमयी भावनाओं को प्रतिष्ठित करने मे राष्ट्र असमर्थ व अकृतकार्य है, तो निश्चय ही वह राष्ट्र राजनैतिक दृष्टि से स्वतन्त्र होते हुए भी सच्चे अर्थों मे पूर्ण स्वतन्त्र नहीं है। आज भारतीय राष्ट्र पूर्ण स्वतन्त्रता की इस महत्तम साधना में ही संलग्न है और राष्ट्र-पुनर्निर्माण का अर्थ व तात्पर्य भी यही है।

अग्नि-परीक्षा

राष्ट्र-पुनर्निर्माण का यह युग हमारी राष्ट्रीयता की अग्नि-परीक्षा का युग है। वह स्वराज्य को राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक का स्व-राज्य या अपना राज्य बनाये, राष्ट्र के हर एक नागरिक पुरुष या स्त्री को अपनी-अपनी रुचि व योग्यता के अनुकूल अधिकाधिक विकाशशील व समुन्नत बनने का अवसर व सुविधा दे, अहंकार-जन्य अविवेकपूर्ण व अप्राकृतिक भेद-भाव मिटाकर शोषित व पद-दलित मानव-समुदाय को मुक्त करे और उन्हे नई स्फूर्ति, उमंग व नया जीवन दे, अथवा वह राष्ट्र के एक अंग को ही परिपुष्ट बनाए और शेष अंगो को क्षीण व अशक्त बने रहने दे या वर्ग विशेष का अस्त्र या यंत्र बनकर शोषण व उत्पीड़न की आंधी को, जो प्रागैतिहासिक काल से अनेकानेक निराधार व निःसार कल्पनाओं व उनकी लम्बी-चौड़ी दुहाइयों के बल पर बे-खटके चलती रही है, जोरों से चलाकर देश के कोने-कोने मे हाहाकार गुंजाए, वह मानवता की आराधना करे या मानवता को ठोकर मारकर— संकीर्ण स्वत्व पर ही अहं-भावपूर्ण एकाधिकार जमा कर— द्वेष, घृणा, दुःस्वार्थ, अन्याय व अत्याचार की हीन वृत्तियों-प्रवृत्तियो को प्रश्रय दे, यह प्रश्न गम्भीर रूप से आज भारतीय राष्ट्रीयता के सामने है और धर्म व संस्कृति की दुहाई से बुरी तरह उलझ कर तथा अनेक विषम परिस्थितियों व घटनाओं के चक्र मे फंस कर अब यह प्रश्न असाधारण रूप से जटिल व महत्त्वपूर्ण भी बन गया है।

धर्म और संस्कृति की दुहाई

धर्म और संस्कृति की छत्र-छाया में अपने प्राचीन स्वत्व और अध्यात्मवाद के आधार पर राष्ट्र-पुनर्निर्माण किया जाए, आज यह आवाज़ ज़ोर पकड़ती दिखाई देती है और यह स्वाभाविक भी है, कुछ इसलिये कि देश के विभाजन या पाकिस्तान के निर्माण की तथा पाकिस्तान की हिन्दू-विरोधी नीति व कार्य-प्रणाली की प्रतिक्रिया है इसमें, और कुछ इसलिये कि इस 'धर्म प्रधान' देश में धर्म और संस्कृति के नाम पर कुछ भी सुनने की रुचि और आंख मींच कर उसे गले से उतारने की आदत बहुत पुरानी है। पर यह राष्ट्र-पुनर्निर्माण का प्रश्न करोड़ों नर-नारियों के जीवन-मरण का प्रश्न है और इस युग की बौद्धिक व वैज्ञानिक विचार-धारा में अन्धश्रद्धा और अन्धानुकरण के लिये कोई स्थान नहीं है, अतः यूं ही असावधानी से कुछ भी शिरोधार्य नहीं किया जा सकता, मजबूरी को शुक्र मान कर या कमज़ोरी को मज़बूती समझ कर मानव-जीवन के साथ खिलवाड़ नहीं किया जा सकता। हमें निःपक्ष व निर्भय होकर विचार-पूर्वक यह देखना ही होगा कि इन आवाज़ों में— पुरातन वाद, स्वकीयवाद और अध्यात्मवाद के इन नारों में— आखिर सार है तो क्या है ?

पुरातनवाद

धर्म और संस्कृति की दुहाई देने वालों के पास कोई स्वस्थ व सुनिश्चित राजकीय कल्पना नहीं है। धर्म व संस्कृति की महिमा वे जरूर गाते है और अध्यात्मवादी आदर्शों व सिद्धान्तों की नींव पर ही राष्ट्र या राज्य को खड़ा करने की वकालत करते हैं, पर उनकी कल्पना का आदर्श राष्ट्र वास्तव मे कैसा है, यह बतलाने के लिये उनके पास कोई ठोस सामग्री नहीं है। हां, प्राचीनता व परम्परा की दुहाई उनकी चिर-संगिनी है और यही उनका सबसे बड़ा सहारा है। प्राचीनता का मोह सामान्यतः मनुष्य की एक सहज दुर्बलता है। इस नाजुक स्थल पर वार करके ये पुरातनवादी, मनुष्य की देखने व विचार करने की शक्ति या क्षमता को दबा देते है, या यूं कहिए कि वे मनुष्य के दौर्बल्य से अनुचित लाभ उठाते हैं। फिर, धर्म-शास्त्रों की ओर संकेत कर, धर्म-गत अन्ध-श्रद्धा का पीठ-बल लेकर, प्रामाणिकता की जाली मुहर भी वे पुरातनवाद पर लगाते हैं और इस तरह वे एक ऐसा वायु-मण्डल चारों ओर फैला देते हैं कि उसमें मनुष्य का बुद्धि-स्वातन्त्र्य व विवेक कुंठित होकर रह जाय।

एक अहंकारपूर्ण गर्वोक्ति

ये पुरातनवादी अपनी परम्परा की अतिप्राचीनता की बात कहते हुए कभी नहीं थकते हैं और, जब भी देखिए, वे यह दावा किया करते हैं कि उनकी जाति या उनकी सभ्यता शत्रुओं—

विधर्मियों व विदेशियों— के असंख्य निष्ठुर प्रहारों को हज़ारों वर्षों से विफल करती हुई अब भी जीवित है। पर वास्तव में यह एक अहंकारपूर्ण गर्वोक्ति ही है, स्वाभिमान या सात्विक गर्वानुभूति यहां नहीं है। यहां विचार की दिशा या दृष्टिकोण ही ग़लत है। वास्तव में जीना गौरव की बात नहीं है, प्रतिष्ठा व सन्मान के साथ या गौरव के साथ जीना गौरव की बात है। बे-इज्ज़ती की जिन्दगी से तो इज्ज़त की मौत ही भली है। एक आदमी एक-सौ वर्ष जिए पर बे-इज्ज़ती के साथ जिए तो उससे वह आदमी कहीं बढ़कर गौरवशाली है जो चाहे पचास वर्ष ही जिए पर इज्ज़त के साथ जिए। यही बात किसी भी जाति या राष्ट्र को लेकर सच है। कोल, भील, हबशी, आदि अनेक जातियों की परम्परा भी इतिहासातीत काल से चली आ रही है और वे जातियां व उनकी सभ्यताएं अभी तक जीवित हैं, यद्यपि परकीय आक्रमणकारियों व शत्रुओं ने निरन्तर उन पर प्रहार किए हैं और उन्हें मिटाने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया है। तो क्या जीवित बने रहने के आधार पर ही वे गौरव कर सकती हैं? क्या पशु-जातियां भी इसी तरह का गर्व कर सकती हैं? क्या कुत्ते और गधे भी फिर यह दावा नहीं कर सकते हैं कि निरन्तर होने वाले प्रहारों व संहार-लीलाओं के बावजूद वे अभी तक ज़िन्दा हैं? फिर, क्या इस दावे को लेकर ही श्वान स्वामि-भक्ति की अपनी प्राचीन परम्परा पर तथा स्वामी के प्रति कर्त्तव्य-पालन के लिये अपने ही सजातीय

श्वानों पर भौंकने व उनसे युद्ध करने की 'आदर्श' श्वान-संस्कृति पर गर्व नहीं कर सकते है? और फिर, गधों को भी अपनी गर्दभ-संस्कृति पर इठलाने से कौन रोक सकता है? वास्तव मे प्राचीन परम्परा या दीर्घ जीवन की दुहाई मे गौरवानुभूति के लिए कोई वास्तविक आधार नहीं है। धर्म का काम अधर्म या पाप को मिटाना है, सभ्यता या सस्कृति का काम मनुष्य के पशुत्व को व उसके कुसंस्कारो को दूर करना है। इस तरह धर्म से ज्यादह पुराना है अधर्म, संस्कृति या सभ्यता से अधिक प्राचीन है कुसंस्कार। कौन कह सकता है कि पाप बहुत पुराना नही है, अन्याय व अत्याचार की परम्परा इतिहासातीत नही है, मनुष्य के पतन की कहानी उतनी ही प्राचीन नही है जितना प्राचीन यह मनुष्य है? फिर भी पाप त्याज्य है, अन्याय व अत्याचार अग्राह्य है, पतन हेय है। अधिक प्राचीन होने से ही कोई चीज श्रेय नही मानी जा सकती। प्राचीनता का श्रेष्ठता के साथ कोई कार्य-कारण या अन्योनाश्रय सम्बन्ध नही है। प्राचीन श्रेष्ठ भी हो सकता है, निम्न भी। नवीन भी अच्छा हो सकता है और बुरा भी। गौरव का विषय बनने योग्य है अच्छाई और श्रेष्ठता, न कि नवीनता या प्राचीनता। पर पुरातनवाद की चहार-दीवारी के भीतर इस सच्चाई का गला घोंट दिया जाता है और आंख मींच कर, अक्ल का दिवाला निकाल कर, खींची जाती है संकीर्ण स्वकीयता व परम्परागत अहभाव की सीमाएं, जहा परिवर्तन हेय है और प्रगति निषिद्ध है।

शास्त्रों की दुहाई और विवेक-दृष्टि

पुरातनवाद प्राचीन धर्म-ग्रन्थों से प्रेरणा लेने का पाठ पढ़ा कर उलझन को और बढ़ा देता है। पहले तो यही एक पहेली है कि कौनसा ग्रन्थ धर्म-ग्रंथ है और कौनसा अधर्म-ग्रंथ है? जहाँ संत-साधु-जन ने ग्रंथ-रचना की है, वहां दुष्ट व दुःस्वार्थी व्यक्तियों ने भी अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है। फिर, अच्छे से अच्छे ग्रंथ-कर्त्ता ने भी मनुष्य होने के नाते भूलें की है। इस तरह कोई भी ग्रन्थ विकृतियों से शून्य नहीं है। इसके अतिरिक्त ये धर्म-ग्रंथ एक ही समय मे नहीं लिखे गए है और इस कारण अनेक युगों की अनेकानेक घटनाओं व व्यवस्थाओं का वर्णन उनमे मिलता है और समय-समय की परिस्थितियों व आवश्यकताओं की अपेक्षा वहां होने से उनमे ही परस्पर भिन्न व विरोधी बातों का समावेश है। फिर, विभिन्न धर्मों व एक एक ही धर्म के अनेक पंथों के ग्रंथों की पारस्परिक विषमताओं का अंत नहीं है। कोई कुछ कहता है, कोई कुछ। सच-मुच धर्म-ग्रथों की दुहाई एक गोरख-धन्धा ही है। आज के युग की समस्याओं को सामने रखकर अन्धश्रद्धा-पूर्ण अविवेकमयी दृष्टि से उन्हे देखने मे दृष्टि-विभ्रम ही होगा, उससे समस्याएं सुलझेगी नहीं, ज्यादह उलझेगी। व्यक्ति समाज व राष्ट्र के विकास के लिए समयोचित परिवर्तन अनिवार्य है पर शास्त्रीय प्रमाणवाद उसकी सबसे बड़ी रुकावट है। जिन बातों मे समाज

व राष्ट्र का हिताहित निहित है, जिन समस्याओं के हल होने न होने पर राष्ट्र का उत्कर्ष-अपकर्ष निर्भर है, उनके लिए ग्रंथों से इष्ट वचन-खण्ड ढूंढना एक वितण्डावाद खड़ा करना है, क्योंकि सौभाग्य या दुर्भाग्य से ये शास्त्र ऐसी कामधेनु या कल्पवृक्ष हैं कि जो चाहिये, इनसे ले लीजिए। ऐसा कोई पुण्य नहीं है जिसका समर्थन इनमे न मिले और साथ ही ऐसा कोई पाप या कुकृत्य नहीं है जिसका अनुमोदन करने वाले उपाख्यान व उपदेश इनमें न हों। एक ही वाक्य या वाक्यांश के कई अर्थ निकलने की विशेषता भी इनमे कम नहीं है और इस चट्टान पर समझदारी सर पटक कर मर जाए, इसके सिवाय दूसरा मार्ग ही क्या है? आज की बुद्धिमत्ता आने वाले कल की मूर्खता बन सकती है, आज की व्यवस्था कल आउट-आफ़-डेट या असामयिक बन सकती है, आज के उपयोगी नियम व विधान कल निरर्थक अनुपयोगी बल्कि हानिप्रद भी बन सकते हैं, यह सीधी-सादी बात भी ग्रन्थों की अन्ध-दासता नहीं समझने देती है। जो अच्छी तरह यह सरल सत्य समझ गया है कि सभी नियम व विधान जो मनुष्य को घेरे रहते हैं, वे केवल एक परिमित समय के लिए ही अथवा एक विशेष परिस्थिति मे ही मनुष्य को शरण दे सकते हैं और तदुपरान्त यदि बदलते नहीं हैं तो वे ही जीवन के लिए कारावास के समान बन जाते है, मिथ्या स्वरूप का विनाश करने मे सदा सतर्क व सचेष्ट ऐसे विद्रोही के लिए निश्चय ही ग्रन्थों की प्रामाणिकता की

दुहाई में कोई आकर्षण व सार नहीं है। हां, ग्रन्थों के समुचित उपयोग का द्वार उसके लिए सदा खुला है। उसके लिए शास्त्र न्यायाधीश के रूप में नहीं, गवाह के रूप में विचारणीय हैं। ऐसा व्यक्ति हंस-विवेक से काम लेगा, दूध दूध पी लेगा, पानी छोड़ देगा, सत्य ग्रहण कर लेगा, असत्य छोड़ देगा, कल्याणकारी तत्व ले लेगा, अकल्याणकारी तत्व छोड़ देगा। यही सत्य-दृष्टि है, यही विवेक-दृष्टि है, यही कल्याण-दृष्टि है, और निश्चय ही शास्त्रों की दुहाई के गोरख-धंधे से इसका कोई तादात्म्य नहीं है।

सद्-प्रेरणा-ग्रहण

ऐसा नहीं है कि भूत या अतीत से अथवा प्राचीन ग्रन्थों से व पूर्वजों से सद्-प्रेरणाएँ न मिल सकें। सचमुच प्राचीन में ऐसी सामग्री है जिस पर गौरव किया जाय; पूर्वजों में ऐसे श्रेष्ठ व महान् व्यक्ति हैं जिनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की जाय, प्राचीन ग्रन्थों में ऐसी घटनाएँ हैं तथा वहाँ ऐसे अमूल्य जीवन-तत्वों का या जीवनोपयोगी सिद्धान्तों का निरूपण व प्रतिपादन है, जिन्हें ग्रहण किया जाय। क्या राम द्वारा शूद्रा शबरी के झूठे बेरों को खाने की घटना से यह प्रेरणा नहीं मिलती है कि अस्पृश्यता के कलंक को मिटाया जाय, शूद्रों के साथ खान-पान न करने के सारे बन्धनों को तोड़ कर उन्हें गले लगाया जाय? क्या राम के एक पत्नी-व्रत के आदर्श से बहु-पत्नी-विवाह को अवैध, नाजायज व पापमय ठहराने का आदेश नहीं मिलता है?

उपनिषद् में जो यह कहा गया है कि जो कार्य अभेद-भावना पर अवलम्बित है, वह कर्त्तव्य है, करणीय है तथा जो कार्य भेद-भावना को लेकर किया जाता है, वह अकर्त्तव्य है, अकरणीय है, उससे हमें यह प्रेरणा नहीं मिलती है कि हम सभी अकल्याणकारी व अमानवीय विषमताएँ हटा कर मानव-जाति को एक और अखण्ड बनाने, स्वकीय-परकीय की तुच्छ कल्पना को दूर कर आत्मीयता का क्षेत्र विश्व-व्याप्त बनाने तथा मानव मानव के बीच समानता लाने की दिशा में निरन्तर अग्रसर हों ? क्या गीता का कर्मयोग जीवन की एक ऐसी सुन्दर फिलासफी नहीं है कि उसके अनुकूल आचरण किया जाय तो न प्रवृत्ति की अति, लालसा व आसक्ति के भाव आच्छादित होकर मन को कलुषित कर सकें और न त्याग व वैराग्य के उन्माद में निवृत्ति की अति जीवन को विषाद निराशा व अकर्मण्यता की मरुभूमि में भटकने के लिए छोड़दे ? क्या गीता में ब्राह्मण चाण्डाल व पशु में समदृष्टि रखने का अथवा प्राणीमात्र को समान समझने का जो अमूल्य उपदेश किया गया है,[1] वह जीवन में उतारा जाय तो वर्ण-व्यवस्था व जाति-पांति-भेद द्वारा पिलाई जाने वाली अहंकार की मदिरा का नशा हिरन न हो ? क्या 'सत्वेषु मैत्री:', 'वसुधैव कुटुम्बकम', 'आत्मन: प्रति-कूलानि परेषां न समाचरेत', आदि अनेक मंजुल भावपूर्ण

---

[1] विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता: समदर्शिन: । [गीता ५ । १८]

महामंत्रों तथा ग्रन्थों में जगह-जगह दिए गये मानव-धर्म के सुन्दर व हृदयग्राही उपदेश विश्वबन्धुत्व की आन्तरिक प्रेरणा नहीं दे सकते है, तथा क्या संकीर्ण दृष्टि-कोण दूर कर उदार दृष्टि-बिन्दु व विशाल दृष्टि-क्षेत्र रखने की सीख उनसे नहीं मिलती है? क्या संख्याकारिका,[२] गौतम न्यायसूत्र,[३] भविष्य पुराण,[४] आदि अनेक ग्रन्थों मे अनेक स्थलों पर मनुष्य-योनि या मनुष्य-जाति की एकता का जो सत्य मान्य किया गया है, उससे जाति-पाति के काल्पनिक भेद-प्रभेद को अमान्य करने की प्रेरणा नहीं मिलती है? क्या महाकवि तुलसीदास की यह स्पष्टोक्ति कि कोई कृति न तो प्राचीन होने से आदरणीय हो सकती है, न नवीन होने से निंद्य, जो विद्वान हैं वे उसकी उत्तमता की परीक्षा करके उसे ग्रहण करते है, जो मूढ़ हैं वे ही दूसरों के विश्वासों मे चलते है,[५] हमें पुरातन-वाद या रूढ़िवाद, प्राचीनता का मोह, पूर्वजों का अन्धानुकरण, तथा इसी तरह की मूढ़ताओं से बचकर, सत्यासत्य व औचित्या-नौचित्य का विवेकपूर्वक विचार व विश्लेषण करने का पाठ नहीं पढ़ाती है? चाण्डाली के गर्भ से महर्षि पराशर, धीवर-कन्या

---

[२] संख्या कारिका ५७।

[३] न्याय. अ. २ आह्नि. २ सूत्र ७१।

[४] तस्मान्न गोऽश्वरकश्चिज्जाति भेदोऽस्ति देहिनाम्।

[५] पुराण मित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्य नव मित्य वद्यम्।
संतः परीक्ष्यान्य तरद् भजन्ते, मूढः पर प्रत्ययनेम बुद्धि॥

के गर्भ से जगद्विख्यात महर्षि व्यास, वेश्या के गर्भ से महर्षि वशिष्ठ तथा शूद्रा व दासी से महर्षि भरद्वाज व नारद की उत्पत्ति तथा ऐसी अन्य अनेक घटनाएँ जो पुराणों में व महाभारत आदि ग्रन्थों मे भरी पड़ी है, उनसे जन्म के आधार पर नहीं, बल्कि ज्ञान व गुण के आधार पर, व्यक्तित्व की श्रेष्ठता मान्य करने का आदेश नहीं मिलता है और क्या वर्णसंकरता व रक्त-शुद्धि का घुटाला उसके आगे अमान्य नहीं ठहरता है ? क्या आर्य-अनार्य के संघर्ष व इसके बाद होने वाले उनके सामंजस्य व एक्य से, यहाँ तक कि उनकी संस्कृतियों के मिल कर अभेदमय बनने से, एक-दूसरे से सीख कर व एक दूसरे का पूरक बन कर मिलने की, अपनी-अपनी सस्कृति व सभ्यता के झूठे अभिमान व अहंकार को लेकर न लड़ने की, सक्रिय प्रेरणा नहीं मिलती है ?

उलटी गंगा

इस तरह अनेक सद्-प्रेरणाएँ मिलती है धर्म-ग्रन्थों से और सचमुच उनसे लाभ उठाया जा सकता है, व्यक्ति, समाज व राष्ट्र का जीवन उन्नत बनाया जा सकता है। पर अन्धानुकरण का उन्माद यह शुभ लाभ कहाँ होने देता है ? वहाँ समय व परिस्थिति के परिवर्तन की अपेक्षा न होने से हर पुरानी व्यवस्था को आज की स्थिति पर लाद देने का अनर्थकारी आग्रह है। फिर, इन्हीं ग्रन्थों मे ऐसी घटनाएँ भी कम नहीं है और ऐसे उपदेशों की भी वहाँ कमी नहीं है जिनसे उलटी गंगा बहाने की प्रेरणा सहज मिल सकती है और मिलती है। किसी भी

धर्म ग्रन्थ को लें, ऐसी बहकाने वाली सामग्री प्राय: वहाँ मिलेगी, खूब मिलेगी। और, सच तो यह है कि अन्धश्रद्धालु व अन्धानुकरण-कर्त्ता सद्-प्रेरणाएँ नहीं लेते है। इसी सामग्री का उपयोग वे प्राय: करते हैं और खुद को व दुनिया को धोका देते है।

पुरातनवादी चाहते क्या हैं?

स्वभावत' ही जब सद्-प्रेरणाओं व सद्-वृत्तियों-प्रवृत्तियों को कोई मान या व्यावहारिक मूल्य ये पुरातनवादी नहीं देते हैं, या ज्यादह से ज्यादह समय-समय पर जुबानी जमा-खर्च में ही उनका उपयोग करके वे रह जाते है, तो जिज्ञासा जाग उठती है और झुँझलाहट व असन्तोष मे वह प्रश्न पर प्रश्न पूछने लगती है। वह जानना चाहती है कि आखिर ये लोग चाहते क्या है? क्या वे चाहते है कि हजारों वर्षों को लांघ कर अतीत की ओर लौटा जाए, मनुष्य ने जो ज्ञान, अनुभव व अनुसधान की पूंजी इन सहस्राब्धियों मे बढ़ाई है, वह नष्ट या लुप्त कर दी जाय? क्या मनुष्य विज्ञान की विचार-धारा की ओर से दृष्टि को हटाकर अंधेरे में प्रवेश करे, अटकलबाजियों, कल्पनाओं और स्वप्नों के बीहड़ वन मे भटके? बुद्धि को ताक़ मे रखकर, विवेक खोकर, तर्क और न्याय-शास्त्र को लात मारकर, विचार व निर्णय करने के अपने सहज मानवीय अधिकार को छोड़कर, अंधा और गूंगा[६] बनकर लकीर का फकीर बने? 'महाजनो येन गतः स पन्थः' का जाप करते हुये या 'बाबा वाक्यम्

[६] महाभारत [अनुशासन पर्व] मे भीष्म-युधिष्ठिर-प्रश्नोत्तर माला

प्रमाणम्' की दुहाई देते हुये मानवीय बुद्धि के विकास व सत्यान्वेषण के स्रोतों को बन्द कर दे ? क्रियाकाण्डों, रूढ़ियों व शब्दाडम्बरों में पड़ कर आत्मा की आवाज़, हृदय की प्रेरणा और जीवन की सच्ची मांग को ठुकरा दे ? क्या भारतीयता या भारतीय राष्ट्रीयता का विशाल राजनैतिक व राष्ट्रीय दृष्टिकोण मिट जाय और संकीर्ण सीमाओं व छोटे-छोटे प्रदेशों मे राज-नीति घिर कर सड़े, परस्पर द्वन्द व युद्ध हों, वंशगत जातिगत काल्पनिक श्रेष्ठता के आधार पर मारकाट हो और शत्रुओं को आक्रमण करने के अवसर दिये जायँ ? "राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है, धर्म और जाति का संरक्षक है, प्रजा का पिता है, इन्द्र, पवन, यम, सूर्य, अग्नि वरुण, चद्र आदि देवताओं के सार-भूत अंशों का तेज-पुंज है",[१] इस तरह की दुहाई देते हुये राजतंत्र की ओर लौटा जाय ? भाई भाई लड़कर ही

मे यह आदेश दिया गया है—"तर्क का सहारा लेकर धर्म की जिज्ञासा करना कदापि उचित नही। मेरी बात मे तनिक भी संदेह न करो। अंधों और गूंगों की तरह निःशंक होकर, मैं जैसा कहूं उसके अनुसार, आचरण करो।" श्रीमद्भागवत् मे ज्ञान को भक्ति का पुत्र बताकर भी ऐसा ही उपदेश दिया गया है। और भी जगह-जगह धर्म-ग्रन्थो मे अन्धश्रद्धा व अधानुकरण का पाठ पढाया गया है।

[१] मनुस्मृति [अध्याय ७ —४, ५, ६, ७, ८]। अन्यत्र भी इसी तरह का वर्णन मिलता है। याज्ञवल्क्य स्मृति, महाभारत, पुराण, आदि में भी राजत्व व राज-धर्म की महिमा का बखान जगह-जगह किया गया है।

न रह जायँ, एक दूसरे की पीठ में छुरा भोंक कर या किसी भी तरह हत्या करके ही कलेजा ठंडा न करें बल्कि भीम की तरह भाई-भाई के कलेजे का गरम-गरम खून पियें[८] और फिर जो भाई-भाई न हों उनका तो कहना ही क्या है ? क्या द्रोणाचार्य भीष्मपितामह और कर्ण के पद-चिन्हों पर चलकर नमकहलाली या वफादारी (स्वामि-भक्ति) का ऐसा 'आदर्श' शिरोधार्य किया जाय जो सत्य और न्याय के विरुद्ध लड़ने और मर-मिटने की प्रेरणा दे ?[९] क्या दुरंगी-नीति का जो राजनैतिक आदर्श श्रीकृष्ण ने स्वयं पाण्डवों की ओर होकर और अपनी सेना कौरवों को देकर रखा, उसे ही अपनी वैदेशिक नीति का आधार बनाया जाय ? और यदि दुर्भाग्य से तीसरा महा-युद्ध छिड़े तब इसी 'कूट-नीति' से काम लेकर विश्व को भारतीय स्वकीय राजनीति का चमत्कार दिखाया जाय ?[१०] क्या सुसज्जित अश्व अन्यान्य देशों में छोड़कर अश्व-मेध-यज्ञ व साम्राज्य-विस्तार या चक्र-वर्तित्व-प्राप्ति के क्षत्रिय धर्म या राज्य-धर्म का पालन किया जाय ?[११]

---

[८] महाभारत [कर्ण पर्व] — पाण्डु-पुत्र भीमसेन ने अपने भाई (एक ही दादा के पोते) दुःशासन को मार कर उस के कलेजे और गले का खून पिया था।

[९] महाभारत [उद्योग पर्व]

[१०] महाभारत [उद्योग पर्व]

[११] अश्वमेध-यज्ञ की घटनाएँ शास्त्रों में भरी पड़ी हैं और राजधर्म

क्या इन न्यायालयों व अदालतों को मिटाकर सत्य और न्याय की कसौटी अभियुक्त को तराजू मे तोलकर[12] पानी में गोता लगवाकर,[13] गरम तपते हुये लोहे के गोलों को हाथों मे देकर[14] तथा ऐसे ही अनेक स्मृति-प्रणीत उपायों को काम में लेकर हो ? जिंदा जलाने,[15] कुत्तों से नुचवाने,[16] हाथ पैर नाक कान जिह्वा उपस्थ आदि अंगों को काटने,[17] गधे पर चढ़ा कर और काला मुंह करके घुमाने,[18] आदि की दण्ड-व्यवस्था फिर चालू कर दी जाय ? क्या फाँसी के कष्ट को अपर्याप्त

या क्षत्रियधर्म के रूप में इसका माहात्म्य भी वहाँ गाया गया है। राजा पृथु ने (श्रीमद्भागवत, चतुर्थ स्कंध) सौ अश्वमेध यज्ञ किये। स्वयं राम ने भी अश्वमेध-यज्ञ किया। अन्यान्य राजाओं ने भी इस धर्म का पालन किया।

[12] याज्ञवल्क्य स्मृति [अध्याय २—१०४]

[13] याज्ञवल्क्य स्मृति [अध्याय २—११०,१११]

[14] याज्ञवल्क्य स्मृति [अध्याय २—१०७]

[15] मनुस्मृति [अध्याय ८—७२]

[16] मनुस्मृति [अध्याय ८—७१]

[17] मनुस्मृति [अध्याय ८—२५, २६, ३२०, ३२२]। और भी अनेक जगह ऐसा विधान है। अन्य स्मृतियों मे भी ऐसी व्यवस्थाएँ दी गई हैं। चाणक्य ने भी इसी तरह की दण्ड-व्यवस्था का प्रतिपादन किया है। इतिहास बताता है कि यह दण्ड-व्यवस्था पहिले प्रचलित भी थी।

[18] मनुस्मृति [अध्याय ८—३७०]

समझ कर मृत्यु-दण्ड के लिये सूली का वही पुराना ढंग जिसमे गुदा-स्थान से धातु की नुकीली छड़ धीरे-धीरे शरीर-भेदन करती हुई खोपड़ी के पार हो आये, या और भी पहले भूखे शेर के आगे छोड़ने, हाथी के पैर के नीचे कुचलवाने, आदि प्राण-दण्ड के जो अत्यन्त कष्टदायक तरीके काम मे लिये जाते थे, उन्हे फिर अपनाया जाय ? द्रौपदी ने पांचों पाण्डवों को अपना पति बना कर जो बहु-पतित्व का उदाहरण रखा, क्या भारतीय नारी 'सती' द्रौपदी का अनुकरण करे ?[१९] क्या दशरथ कृष्ण आदि अनेक 'आदर्श' विभूतियों के चरण-चिन्हों पर चलते हुये बहु-पत्नीत्व को, यहा तक कि हजारों पत्नियां रखने की प्रथा को, प्रतिष्ठित किया जाय ?[२०] जिस बिल्वमगल के प्रसिद्ध नाटक को हम अभी भी गौरवानुभूति के साथ रंग-मंच पर खेलते है, उससे प्रेरणा लेकर पति के अतिथि-सत्कार के परमधर्म-पालन के लिये पत्नी को अतिथि की शय्या पर भेजने का 'आदर्श' फिर प्रतिष्ठित किया जाय ? क्या फिर सुदर्शन की तरह भार्या को अतिथि की काम-पिपासा बुझाने का आदेश देकर अमर कीर्ति पाने

---

[१९] महाभारत [आदि पर्व]

[२०] श्रीकृष्ण के एक ही साथ सोलह हजार एक सौ कन्याओं से विवाह करने का उल्लेख मारकण्डेय पुराण में है। और भी उनके बहुत विवाहो का वर्णन जगह-जगह पुराण व महाभारत आदि मे मिलता है। अन्यत्र भी बहु-पत्नी-विवाह के सैकड़ो उदाहरण धर्म-ग्रन्थों मे हैं।

का पुण्य-लाभ लिया जाय?[21] क्या सत्यवादी हरिश्चन्द्र का अनुकरण करते हुये स्वयं को ही नहीं, पत्नी व पुत्र को भी बेचने का अधिकार शासन-विधान मे मान्य कर लिया जाय?[22] क्या दास-प्रथा को फिर प्रचलित किया जाय?[23] क्या मित्रसेन व युवनाश्व की तरह पत्नी का दान करके स्वर्ग का पास-पोर्ट पाने का सीधा-साधा उपाय फिर अपनाया जाय?[24] कोई कामातुर स्त्री चौराहे पर खड़ी होकर या कहीं भी समागम या वीर्य-दान की याचना करे तो उसे स्वीकार कर समागम करना पुरुष मात्र का धर्म या कर्त्तव्य माना जाय?[25] क्या नियोग या पर-पुरुष के साथ समागम

---

[21] महाभारत [अनुशासन पर्व] मे सुदर्शन का अपनी पत्नी ओघवती को दिया हुआ यह आख्यान देखिये —

"कल्याणी! तुम कभी किसी अतिथि की इच्छा के प्रतिकूल न करना। जिस-जिस वस्तु से अतिथि को संतोष हो, वह सदा देती रहना। अपना शरीर-दान करने का भी अवसर आ जाय तो मन मे कभी अन्यथा विचार न करना क्योंकि गृहस्थो के लिये अतिथि-सेवा से बढ़कर दूसरा धर्म नहीं है।"

[22] मार्कण्डेय पुराण।

[23] शास्त्रों मे जगह-जगह दास-दासी के क्रय-विक्रय का उल्लेख है। पहिले यह प्रथा प्रचलित भी थी।

[24] महाभारत [शान्ति पर्व]

[25] महाभारत [आदि पर्व—ययाति शर्मिष्ठा प्रकरण]

करके सन्तानोत्पादन करने की धर्मानुमोदित प्रथा फिर चला दी जाय,[26] अथवा व्यास के सदृश्य भाई की विधवा पत्नियों के साथ ही नहीं, दासी या नौकरानी तक के साथ समागम कर संतानोत्पादन का काम फिर कर्त्तव्य के आसन पर बैठाया जाय?[27] क्या दुष्यन्त नल आदि का अनुकरण कर गंधर्व-विवाह की प्रथा फिर चलाई जाय और एकान्त में कन्या को पत्नी-रूप में ग्रहण करने और उसके साथ समागम करने के 'धर्म-संगत' आचरण को वैध ठहराया जाय?[28] क्या क्रय-विक्रय द्वारा, बलात्कार द्वारा, अथवा सोती हुई या अरक्षित कन्या से समागम करके, कन्या प्राप्त करने को 'विवाह' की संज्ञा व मान्यता दी जाय?[29] क्या सती, पतिव्रता या सदा

---

[26] मनुस्मृति [अध्याय ९] व अन्य स्मृतियों में नियोग का वर्णन है और महाभारत पुराण आदि में नियोग के उदाहरण भी पर्याप्त संख्या में मिलते हैं।

[27] व्यास ने अपने भाई काशी-नरेश विचित्रवीर्य की विधवा पत्नियों अम्बिका और अम्बालिका से क्रमशः धृतराष्ट्र और पाण्डु को जन्म दिया तथा अम्बिका की प्रेरणा से उसकी दासी ने व्यास जी के द्वारा ही विदुर को उत्पन्न किया। [महाभारत, आदि पर्व]

[28] गंधर्व-विवाह का वर्णन व उस के अनेक उदाहरण सभी धर्म-ग्रन्थों में मिलते हैं। विवाह के अनेक भेदों में गंधर्व-विवाह भी एक है।

[29] मनुस्मृति (अध्याय ३), याज्ञवल्क्य स्मृति, महाभारत, पुराण, आदि ग्रन्थों में आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख है और उनमें आसुर

चारिणी स्त्री परम-पतिव्रता शैव्या ब्राह्मणी की तरह कामुक. लम्पट व व्यभिचारी पति के व्यभिचार-कर्म मे सहायता देना अपना कर्त्तव्य समझे ?[१०] गांधारी ने अपनी आंखों पर आजन्म पट्टी बंधी रख कर नेत्रहीन धृतराष्ट्र के अनुकूल आचरण का जो उदाहरण रखा था, क्या भारतीय नारी ऐसे ही अनुकूल आचरण के प्राचीन 'आदर्श' को प्रतिष्ठित करे ?[११] क्या आठ वर्ष की कन्या और चौवीस वर्ष के युवक की अथवा बारह वर्ष की कन्या और तीस वर्ष के युवक की जोड़ी योग्य व श्रेष्ठ मानी जाय ?[१२] क्या कन्या को सम्पत्ति धन या जड़ पदार्थ मान कर कन्या दान को धर्म के ऊंचे सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया जाय ?[१३] अथवा आठ वर्ष की 'गौरी' का या ऋतु-धर्म के पहले ही कन्या का विवाह अनिवार्य ठहराया जाय,[१४]

विवाह, राक्षस विवाह और पैशाच विवाह भी है। यद्यपि इन्हे निंद्य कहा गया है फिर भी विवाह के आसन पर इन्हे जगह मिली है।

[१०] पद्मपुराण (सृष्टि खण्ड) मे शैव्या ब्राह्मणी द्वारा अपने कोढी पति को कन्धे पर बैठा कर वेश्या के घर ले जाने के पति-व्रत-धर्म-पालन का गुणगान किया गया है।

[११] महाभारत [आदि पर्व]

[१२] मनुस्मृति [अध्याय ९—९४]

[१३] सभी धर्म-ग्रन्थो मे कन्या-दान को सर्व-श्रेष्ठ दान व धर्म कहा है और उस का माहात्म्य गाया है।

[१४] मनुस्मृति [अध्याय ९—४]

उन्नीस पन्द्रह वर्ष का बन्धन तोड़ दिया जाय, बालविवाह को जायज़ करार दिया जाय ताकि पिता निंदनीय पापी या नरकगामी न हो ? 'लोकापवाद' के भय से तथा 'मर्यादा-पालन' के लिये राम द्वारा निर्दोष प्रमाणित सीता के देश-निर्वासन की घटना से प्रेरित होकर पाकिस्तान से लौटी हुई या गुंडों द्वारा बलत्कृत अभागी बहिनों को, न केवल यही कि ग्रहण न किया जाय या उन्हे शरण न दी जाय बल्कि, तिरस्कृत व देश निर्वासित कर दिया जाय ? स्त्री को धर्म-ग्रन्थों मे अपवित्र, मूर्ख, प्रत्यक्ष राक्षसी, कुलक्षणी, व्यभिचारिणी, मायाविनी, ताड़न की अधिकारी, दुर्गुणों की खान और न जाने क्या-क्या कह कर नीचे गिराया गया है, निंदित व पद-दलित किया है, क्या फिर नारी के साथ यही अन्याय किया जाय ?[१४] सतीत्व के नाम पर विधवाओं को मृत पति की देह के साथ बलात् आग मे भून कर उन्हे बैकुण्ठधाम भेजने का महान

---

[१४] हिन्दू धर्म-ग्रन्थ स्त्री-निंदा के वाक्यो उपाख्यानों व उदाहरणों से भरे पडे हैं। यदि उन का संग्रह किया जाय तो एक बृहद् ग्रंथ का निर्माण हो सकता है। प्रशंसा-सूचक भी वाक्य हैं वहाँ पर वास्तव मे वह प्रशंसा नारी की नही है या उस नारी की नहीं है, जिसका अपना एक व्यक्तित्व है, स्वत्व है, अस्तित्व है, बल्कि उस नारी की है जो पति का आधा अंग है, पति की दासी है, 'पतिव्रता' है, सती है, और प्रकारान्तर से यह प्रशंसा पति-परमेश्वर या पुरुष की ही है। सचमुच स्त्री को बहुत ही निकृष्ट स्थान मिला है हिन्दू धर्म-ग्रन्थो मे या हिन्दू समाज में।

धार्मिक कृत्य फिर चालू किया जाय और 'म्लेच्छों' द्वारा सती-प्रथा रोकने का जो कानून बना था उसे रद्द कर दिया जाय?[१६] क्या सतीत्व के नाम पर चिर-वैधव्य की भट्टी मे अगणित विधवायें जिस तरह झुलसती रही है, उसी तरह झुलसती रहें और यह विधवा-विवाह अवैध किया जाय?[१७] स्त्री उसी तरह निरीह पराधीन स्वत्वहीन नगण्य जघन्य और पद-दलित बनी रहे जैसी सदियों मे बनी हुई है और उसी तरह निंदा व भर्त्सना की अधिकारिणी बनी रहे जैसा कि ग्रन्थों में भरी हुई स्त्री-निंदा से आभास होता है, और वह उठे भी तो अपने पैरों पर खड़ी होकर नहीं वल्कि पुरुष के व्यक्तित्व से टिक कर ही उठे, कभी उसका स्वतन्त्र स्थान न हो, कभी वह स्वाधीन न हो,[१८] घर की चहारदीवारी में वह घिरी रहे अथवा घर के बाहर उसका कार्यक्षेत्र न हो, अर्थ-स्वातन्त्र्य उसे अलभ्य हो, वह पूरी तरह पराधीन हो।

---

[१६] स्कंधपुराण, ब्रह्मखण्ड [धर्मारण्य खण्ड, अध्याय ७], याज्ञवल्क्य-स्मृति, मनुस्मृति, महाभारत आदि ग्रन्थों मे जगह—जगह सती होने का माहात्म्य गाया गया है।

[१७] मनुस्मृति [अध्याय ५—१५७,१५८]। अन्यत्र भी ऐसा ही आदेश है। अन्य स्मृतियों मे भी इसी तरह का विधान है।

[१८] मनुस्मृति [अध्याय ५-४७, ४८],[अध्याय ६—२],याज्ञवल्क्य स्मृति [अध्याय १—८५]। अन्य ग्रन्थों मे भी ऐसा उपदेश या विधान

पति कैसा भी दुष्ट नीच या दुराचारी हो, कितना भी पत्नी को मारे, सताए, पीड़ित करे, तब भी पत्नी उसे देवता, तीर्थ-शिरोमणि, व परमेश्वर ही मान कर उसकी चरण-रज-सेवा मे निमग्न रहे,[३९] और इस तरह पुरुष के शैतान और स्त्री के हैवान बने रहने का रास्ता खुला रहे, बल्कि और साफ हो जाय ? क्या धर्म के नाम पर वेद-मंत्रों का उच्चारण करते हुए मूक निरीह पशुओं को अग्निकुण्ड मे झोंका जाय, पशु-बलि की प्रथा, जो अभी भी कुछ अंशों मे प्रचलित है, फिर व्यापक बनाई जाय ?[४०] क्या फिर शास्त्रार्थ वाद-विवाद वितण्डावाद का बाजार गर्म किया जाय और यह नियम बना दिया जाय कि जो शास्त्रार्थ मे हारे, उसे जल मे डुबो दिया जाय ?[४१] क्या चाण्डाल के छू जाने पर अशुद्ध हो जाने व नहाने की छुआछूत या अस्पृश्यता की बीमारी, जो अब धीरे

है। स्त्री-धर्म के निरूपण मे जगह-जगह विस्तारपूर्वक इसी मन्तव्य की प्रतिष्ठा की गई है।

[३९] मनु० [अध्याय ५–१५४], रामचरित मानस (आरण्य काण्ड)। इन्ही मे अन्यत्र तथा अन्य ग्रन्थो मे बहुत स्थलों पर ऐसी ही सीख या आज्ञा स्त्री को दी गई है।

[४०] धर्म के नाम पर पशु-यज्ञ व पशु-बलि का पहले बहुत ज़ोर था। "वैदिकी हिसा हिसा न भवति" के सिद्धान्त की दुहाई दे-देकर इस हिसा को धर्म का रूप दे दिया गया था।

[४१] महाभारत [वन पर्व]

धीरे मिट रही है, फिर जोर पकड़े और यह हरिजन मंदिर-प्रवेश[४२] का भ्रष्टाचार बन्द हो ?[४३] वर्ण-व्यवस्था का मखमली दस्ताने मे छिपा हुआ फौलादी पंजा जो सहस्राब्दियों से असंख्य नर-नारियों को पशु से भी गिरा हुआ जीवन बिताने के लिए विवश करता रहा है और जिसकी शोषणात्मक कूटनीति अनुपमेय है और जो आज नये युग की नई लहरों के चपेटों मे क्षीण हो रही है, टूटने लगा है, फिर सुदृढ़ हो, और फिर धर्म का मुलम्मा चढ़ा कर, भय और आतंक दिखाकर, श्राप की धमकी देकर, नरक की कल्पित यन्त्रणाओं मे डरा कर, ब्राह्मण-आतंकवाद इस देश के असंख्य अब्राह्मण नर नारियों को राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक व मानसिक दासता या हर तरह की गुलामी के बंधनों मे

---

[४२] शूद्र व दलित वर्ग के लिये आज 'हरिजन' शब्द का प्रयोग होने लगा है पर वास्तव मे शूद्र को 'हरिजन' कहना जान कर या अनजान में शूद्रता के महान् अमत्य को ईश्वरीय अनुमोदन देना है उनकी 'जन' या 'मनुष्य' से भी गिरी हुई दुरावस्था का मज़ाक उड़ाना है। औरों की तरह उन्हे साधारण जन या मनुष्य माना जाय, उन पर इतनी बड़ी कृपा न की जाय, इसी मे उनके प्रति न्याय है।

[४३] मनुस्मृति [अध्याय ५-८५]। और भी जगह-जगह स्मृतियो व अन्य ग्रन्थों में अस्पृश्यता का विधान मिलता है और हिंदू समाज-संगठन की मूल-भूत वर्णव्यवस्था का मुख्य स्तम्भ यह हज़ारो वर्षों से रही ही है। अब यह कम हो रही है पर फिर भी अभी हिंदू-जीवन मे इसका विशेष स्थान है।

बाँधे रखे ?[४४] क्या फिर यह सर्वमान्य हो कि ब्राह्मण तीर्थ-राज है, परम पूजनीय है, उपास्य देवता है ? दान की--पूंजीवादी व्यवस्था के इस आवश्यक या अनावश्यक पाप की--महिमा गा-गा कर, दान को श्रेष्ठ धर्म बता बता कर, जो ब्राह्मण-वर्ग की, कुछ झंझट व संघर्ष किए बिना, उदर-पूर्ति व हर तरह के भोग-विलास व ऐश्वर्य की व्यवस्था बड़ी ही दूर-दर्शिता कुशलता व कूटनीतिज्ञता के साथ बना दी गई थी और जिसके बल पर निठल्लापन और मक्कारी का बाज़ार खूब गर्म रहा है, लाखों मुफ्तखोरों ने माता मेदनी को रौंदा है और मानवता व भारतीयता को त्रस्त किया है, वह फिर पनपे और फिर हमारे राष्ट्रीय व सामाजिक जीवन पर आच्छादित हो ?[४५] क्या मनु का यह सिद्धान्त मान्य व शिरोधार्य किया जाय कि संसार मे

---

[४४] संभवत: महाभारत का कोई भी पर्व या अध्याय ऐसा नहीं है जिसमे वर्ण-व्यवस्था का विषद् विवेचन नही है। अन्य ग्रंथों में भी खूब विस्तार-पूर्वक वर्ण-भेद पर स्थित ब्राह्मणत्व की प्रतिष्ठा व सर्व-श्रेष्ठता का वर्णन है।

[४५] सारी महाभारत मे, पुराणो में व स्मृतियो, मे दान की व्यव-स्था का बड़ा विस्तृत वर्णन है और ब्राह्मण को दान का सर्वश्रेष्ठ पात्र बताकर या ब्राह्मण को दान करने का महात्म्य गाकर ब्राह्मण वर्ग द्वारा अब्राह्मण-वर्गों के शोषण को धर्मानुमोदित बनाया गया है। जरा भी नि:पक्ष होकर अध्ययन करने पर वर्णव्यवस्था का यह उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है।

जो कुछ धन व संपत्ति है वह ब्राह्मण की है, अतः ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने के कारण और श्रेष्ठतम होने के कारण निश्चय ही ब्राह्मण सब लेने के योग्य है, तथा जो दूसरे का अन्न ब्राह्मण खाता है या वस्त्र पहिनता है और दूसरे का लेकर और को देता है, वह भी ब्राह्मण का ही धन है और ऐसी स्थिति में ब्राह्मण की करुणा से ही और लोग भोजनादि करते हैं ?[४६] क्या ब्राह्मण का यह मनु-प्रणीत अधिकार शासन-विधान में मान्य कर लिया जाय कि ब्राह्मण आवश्यकता पड़ने पर चाहे तो जबरदस्ती भी शूद्र का धन ले-ले और इसके लिये वह दण्डनीय न हो ?[४७] एक ही अपराध करने पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र को क्रमशः अधिकाधिक कम दण्ड देने की जो व्यवस्थाएँ याज्ञवल्क्य व मनु आदि ने दी है, उन्हें मान देकर कानून की दृष्टि में समस्त नागरिकों की समानता का सिद्धान्त अमान्य कर दिया जाय ? क्या शूद्र व दलित वर्ग पर द्विजों की या ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-वर्णों की सेवा का कर्त्तव्य लादकर फिर उसे जोरों के साथ रौंदा जाय, पीसा जाय और बरबाद कर दिया जाय ?[४८] क्या वर्ण धर्म के नाम पर शोषण व उत्पीड़न का बाज़ार फिर गर्म किया जाय ? शूद्र

---

[४६] मनुस्मृति [अध्याय १–१००, १०१]

[४७] मनुस्मृति [अध्याय ८–४१७]

[४८] मनुस्मृति [अध्याय १–६१]। और भी अनेक स्थलों पर ग्रन्थों में शूद्र के इस सेवा धर्म का अतिरंजित वर्णन मिलता है। वर्ण-व्यवस्था का मुख्य आधार-स्तम्भ भी यही है।

द्विजों के प्रति कठोर वचन बोले तो उसकी जीभ काटली जाय,[४९] अथवा उसके मुंह में दस अंगुल की आग में लाल की हुई लोहे की कील घुसेड़ दी जाय,[५०] अथवा यदि वह किसी द्विज स्त्री के साथ गमन करे तो उसका उपस्थ काट दिया जाय या उसका वध कर दिया जाय,[५१] वह वेद-वाक्य सुन ले तो सीसे और लाख से उसके कानों को भर दिया जाय,[५२] वह वेद-मंत्र का उच्चारण करे तो उसकी जीभ काट ली जाय,[५३] यदि वह वेद-मंत्रों को याद करले तो उसका शरीर ही कटवा दिया जाय,[५४] वह ब्राह्मण को उपदेश दे तो उसके मुंह और कान में गरम-गरम तेल डाला जाय,[५५] वह द्विजों के ऊपर डंडा उठाए या उन पर प्रहार करे तो उसके हाथ कटवा दिए जायँ,[५६] वह ब्राह्मण के साथ एक आसन पर बैठ जाय तो उसकी कमर को तपाई हुइ लोहे की शलाका से दाग़ कर उसे

---

[४९] मनुस्मृति [अध्याय ८–२७०]

[५०] मनुस्मृति [अध्याय ८–२७१]

[५१] गौतम न्याय-सूत्र [अध्याय १२]

[५२] गौतम न्याय-सूत्र [अध्याय १२]

[५३] गौतम न्याय-सूत्र [अध्याय १२]

[५४] गौतम न्याय-सूत्र [अध्याय १२]

[५५] मनुस्मृति [अध्याय ८–२७२]

[५६] गौतम न्याय-सूत्र [अध्याय १२], व मनुस्मृति [अध्याय ८–२७९, २८०]

देश से निकाल दिया जाय,[47] तथा क्या इसी तरह की कुटिल व पाप पूर्ण व्यवस्थाएँ जो धर्म-शास्त्रों मे भरी पड़ी है और जिनके बल पर हमने अपने ही भाइयों को निरस्त्र, नि:सहाय, दीन-हीन व बिना पैसे का गुलाम बना कर श्वान-शूकर की तरह जीवन बिताने पर मजबूर किया है, जिन के पेट पर ही लात मार कर नहीं, बल्कि जिनकी सारी इज्जत पर भी खुला डाका डाल कर, झूठी पत्तलों पर गिद्धों व चीलों की तरह छीना-झपटी करने की मन:स्थिति व मजबूरी मे डाल कर तथा हर तरह उन्हे अधि-कार-वंचित व पद-दलित कर अन्याय और अनीति की हद कर दी है, क्या इन काले कारनामों की फिर आवृत्ति की जाय और गिरती हुई वर्ण-व्यवस्था की दीवारो का जीर्णोद्धार हो ? क्या जाति-पांति तथा ऊँच-नीच की भयङ्कर विषमताओं को फिर मानव-जीवन पर बुरी तरह लादा जाय ? क्या मोक्ष-प्राप्ति के प्रलोभन मे रथ के पहियों के नीचे दब मरने,[48] कुए मे कूदकर प्राण देने,[49] व अनेक प्रकार आत्महत्या करने की जिन कुप्रथाओं को सरकार ने कानून द्वारा

---

[47] मनुस्मृति [अध्याय ८-२८१]

[48] जगन्नाथधाम मे रथ यात्रा के समय कितने ही भक्त जन रथ के पहियो के नीचे मोक्ष-प्राप्ति की आशा मे जान-बूझ कर दब कर मर जाते थे। यह नृशंस कार्य हर तीसरे वर्ष होता था।

[49] काशी-धाम मे आदि-- विश्वेश्वर के मंदिर के पास एक कुआं है जिसमें मोक्ष-प्राप्ति की अभिलाषा से कूद कर भक्तजन अपनी जान दे दिया करते थे।

बंद कर दिया है, उन्हें फिर प्रचलित किया जाय? क्या गंगा-प्रवाह,[६०] चरकपूजा[६१] व महा-कुप्रसिद्ध व भीषण सती-दाह की निंद्य प्रथाओं को फिर वैध कर दिया जाय, अथवा क्या फिर नरमेध,[६२] महाप्रस्थान,[६३] तुषानल,[६४] हरिबोल[६५] आदि की

---

[६०] संतान न होने पर माता-पिता यह मनौती करते थे कि यदि उनके संतान हुई तो वे अपने पहिले बच्चे को गंगा की भेंट चढ़ायगे। इस मनौती को पूरा करने लिए वे अपनी पहली संतान को गंगा में बहा देते थे।

[६१] काली के मोक्षाभिलाषी उपासक के मेरुदंड में लोहे के हुक धँसा कर उसे रस्सी के द्वारा चरखी के एक छोर में लटका देते थे और चरखी के दूसरे छोर से बंधी हुई दूसरी रस्सी को पकड़ कर उस चरखी को खूब ज़ोर से तब तक नचाते थे जब तक उस उपासक के प्राण-पखेरू न उड़ जाये।

[६२] यह प्रथा दक्षिण व उत्तर भारत में प्रचलित थी। इसमें किसी अनाथ या निर्धन मनुष्य को दीक्षित करके यज्ञ में उसकी बलि चढ़ाई जाती थी। सन् १८४५ एक्ट २१ के द्वारा इसे बंद किया गया था।

[६३] यह एक प्रकार का आत्मघात था। इस व्रत को करने वाले मोक्षलाभार्थ जल में डूबकर अथवा आग में जल कर अपनी जान दे देते थे। यह प्रथा भी क़ानून द्वारा बन्द की गई।

[६४] पाप के प्रायश्चित-स्वरूप अपने को भूसा या घास की आग में जला कर प्राण देने की यह प्रथा भी क़ानून द्वारा बंद की गई।

[६५] यह प्रथा बंगाल में प्रचलित थी। असाध्य या मरणासन्न

कुत्सित प्रथाओं को कानूनन जायज़ ठहराया जाय ? क्या महर्षियों महात्माओं व देवताओं के जीवन-वृत्तांत को अक्षरश: सत्य मान कर उनके जीवन की घटनाओं में आंख भींचकर प्रेरणाएँ ली जायँ और इस दृष्टि से क्या धोखे से सदाचारिणी स्त्री को भ्रष्ट करने,[६६] अपनी ही पुत्री के साथ अनुचित सम्बन्ध करने,[६७] कुमारियों व पर-वधुओं के साथ नाचने तथा हर प्रकार कामक्रीड़ा व समागम करने[६८] की घटनाओं से कामुकता, लम्पटता व व्यभिचार का सबक पढ़ा जाय और यौन-सदाचार को धता बता दी जाय ? क्या हवाई जहाज़, बम, टैंक आदि आधुनिक शस्त्रास्त्रों को हटाकर वही पुरानी तीर कमान ढाल तलवार गदा घोड़ा हाथी आदि का उपयोग युद्धों में किया जाय ? क्या फिर बैलगाड़ी की ओर लौटा जाय ? क्या धोती-कुरता तथा लहँगा-ओढ़नी को राष्ट्रीय पोशाक ठहराकर, राज-दूतावासों को आश्रम बना कर, तथा वही सब पुराने रंग-ढग

रोगी को गंगा में लेजाकर उसे गोते दे दे कर स्नान कराते थे तथा उससे कहते थे— 'हरि बोल, बोल हरि'। यदि वह गोते खाते-खाते मर जाता था तो वह बड़ा भाग्यवान समझा जाता था, अन्यथा उसे वहीं अकेले तड़प-तड़प कर मरने के लिए छोड़ दिया जाता था। यह प्रथा सन् १८३१ में क़ानून द्वारा बंद की गई।

[६६] रुद्र संहिता [युद्ध खण्ड, अध्याय २२]

[६७] श्रीमद्‌भागवत [तृतीय स्कंध, अध्याय १२]

[६८] श्रीमद्‌भागवत [दशम स्कंध, अध्याय २६]

अपना कर प्राचीन भारतीय संस्कृति का जैसे का तैसा प्रतिनिधित्व किया जाय ?

दाल में काला

इस तरह सैकड़ों प्रश्न सामने आते है और यह समझ मे नहीं आ पाता है कि वास्तव मे ये प्राचीन सभ्यता व संस्कृति के पुजारी चाहते क्या हैं ? और जब हम देखते है कि जिन की सारी दिनचर्या, जिनका सारा जीवन-क्रम मशीन युग व विज्ञान-युग की देन पर टिका है, जिनकी रोटी ही नहीं ऐश्वर्य के सारे साधन यह आज की मशीन-सभ्यता दे रही हैं, वे अतीत की, प्राचीन युग की, धर्म और संस्कृति की, बाते करते है तो यही समझ मे आता है कि यहाँ धोका है, खतरा है और तभी पुरातनवाद की बाहरी ही नहीं, भीतरी असलियत हमारे सामने आ जाती है और इस सत्य का साक्षात्कार होता है कि वास्तव मे नहीं चाहते वे जिसकी बाते बनाते है, वे धोका देते है स्वार्थ-सिद्धि के लिये, शोषित व पद-दलित वर्ग को शहद से सनी तीखी धार मे त्रस्त रखकर सदा उनका शोषण करते रहने के लिये, इसलिए कि गिरे हुए अपना स्वत्व न समझ पाएँ, विद्रोह न कर बैठे, समानता का दावा न करने लगे । यहाँ दाल मे काला है और वह साफ दिखाई दे रहा है ।

नवीन-प्राचीन

'नवीन' या 'प्राचीन' सापेक्ष शब्द है, किसी भी युग

विशेष का इनसे बोध नहीं होता है । जिस 'प्राचीन' की आज धुन लगाई जा रही है, वह अपने समय में नवीन था और उस समय भी ऐसे लोगों की कमी नहीं थी जो इस 'नवीन' से चिढ़कर 'प्राचीन' की महिमा गाते थे। जिसे हम आज नवीन कहते है, कल वही प्राचीन बनने वाला है और तब ऐसे लोगों की कमी न होगी जो उस समय के 'नवीन' से घबरा कर 'प्राचीन' का या 'आज के नवीन' को ही दुहाई देंगे । वास्तव मे नवीन-प्राचीन रूप को देखने की दृष्टि ही ठीक नहीं है । नवीन-प्राचीन का झमला प्रगति के मार्ग की एक बड़ी बाधा है । महाकवि कालिदास ने ठीक ही कहा है—

पुराण मित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्य नव मित्य वद्यम् ।
सत परीक्ष्यान्य तरद् भजन्ते, मूढ़ः पर प्रत्ययनेम बुद्धि ॥

[कोई कृति न तो प्राचीन होने से आदरणीय हो सकती है, न नवीन होने से निन्द्य। जो विद्वान है वे उसकी उत्तमता की परीक्षा करके उसे ग्रहण करते है। जो मूढ़ है वे ही दूसरों के विश्वासों पर चलते है]

प्राचीनता का मोह

सत्यासत्य या औचित्यानौचित्य का नवीन-प्राचीन से कोई अनिवार्य सम्बन्ध है ही नहीं । नवीनता का उन्माद हो या प्राचीनता का मोह हो, सत्य और कल्याण के मार्ग मे दोनों ही समान रूप से बाधक है। पर प्राचीनता का मोह मनुष्य

की एक सहज दुर्बलता रही है और है, इसलिए उससे अधिक अनर्थ हुआ है। दूर के ढोल सुहावने होते हैं—यह कहावत जहाँ स्थान की अपेक्षा से ठीक है वहाँ काल की अपेक्षा से भी उतनी ही ठीक है। प्राचीनता का मोह प्रतिक्रियावाद का गढ़ है। प्राचीनता का पुजारी स्वभाव से अवसर्पणवादी होता है। वह पतन में विवशता या भ्रम-जन्य संतोष के भाव रखता है बल्कि पतन को पतन ही नहीं मानता है और उन्नति व प्रगति के प्रयत्न को विडम्बना समझता है। वह सदैव पूर्वजों की बुद्धिमत्ता की ही दुहाई दे-देकर हर नवीन का, हर परिवर्तन का, उपहास करता है। वह यह नहीं सोचता है कि हमारे पूर्वजों के पास जितनी पूंजी थी, वह तो हमे मिली ही है पर साथ ही इतने समय मे जगत ने जो अनुभव व ज्ञान कमाया है वह भी पूंजी के रूप में ही हमे मिला है, इसलिए क्यों न अपनी सारी पूंजी का लाभ उठाएँ, क्यों न आगे बढ़े? पुराननवादी प्रगति तो क्या करेगा, जीवित बने रहने के लिये अनुकूल परिस्थिति भी स्थित नहीं रख पाता है। जीवन बना रहे इसके लिये यह जरूरी है कि शरीर नए भोजन को पचा सके और पुराने भोजन से सार तत्व लेकर जो मल शेष रहे, उसे बाहर निकाल सके। इन में से एक भी क्रिया का बन्द होना मृत्यु है। प्राचीनता के मोही में ये दोनों ही क्रियाएँ बन्द हो जाती है। 'नवीन' से घृणा होने से नवीन सत्य वह ग्रहण नहीं कर पाता है और 'प्राचीन' से अंधानुराग होने से प्राचीन असत्य को वह छोड़ नहीं पाता है। हमें

आगे बढ़ना है, हमें ऊपर उठना है, यदि हम काल-स्रोत में यूं ही बह जाने के लिए नहीं आए हैं कि पतवार छोड़कर हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें, यदि हमें अपने मनुष्यत्व के महत् आदर्श को काल-प्रवाह के बीच अविचल बनाए रखना है तो यह सरल सत्य हमें मान्य करना ही होगा कि जो सभी नियम व विधान मनुष्य को घेरे रहते हैं, केवल एक परिमित समय के लिए ही मनुष्य को शरण व संरक्षण देते हैं और तत्पश्चात् यदि परिस्थिति के बदलने पर प्रति-परिस्थिति के अनुरूप बदलते नहीं हैं तो वे ही जीवन के लिए कारावास बन जाते हैं, इसलिए परिस्थितियों व आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन करना ही विकास के लिए, जीवन के लिए, आवश्यक है, अपरिहार्य है। मानव-जीवन का इतिहास इस सत्य का साक्षी है।

अतीत का गौरव : पूर्वजों का आदर

पर जहाँ यह जरूरी है कि समयोचित परिवर्तन का विरोध न हो, प्रगति में चिढ़ न हो अथवा विकास या भविष्य-निर्माण के प्रति उदासीनता न हो, वहाँ यह भी जरूरी है कि प्राचीन या अतीत के प्रति उपेक्षा न हो, पूर्वजों का अपमान न हो। जो प्राचीन पर नाक-भौं सिकोड़ता है, वह नवीन का भी तिरस्कार करता है, क्योंकि आज का नवीन कल का प्राचीन बनने वाला है। जो पूर्वजों का अनादर करता है, वह खुद का अनादर करता है क्यों कि वह स्वयं आने वाली पीढ़ियों का पूर्वज है। प्राचीन से ही नवीन जन्म लेता है। भूत के गर्भ में वर्तमान रहता है, और वर्तमान

के गर्भ मे भविष्य रहता है। पूर्वजो की हड्डियों पर वर्तमान का ढाँचा खड़ा है, और हमारे पूर्वजो की व हमारी हड्डियों पर भविष्य की इमारत खड़ी होगी। पर प्राचीन की या पूर्वजों की प्रतिष्ठा अन्धानुकरण मे नहीं है। दृष्टि के सामने महाकाल हो, भूत ही नहीं, वर्तमान व भविष्य भी हमारे सन्मुख हों, इसी में हमारे पूर्वजों की और हमारी गौरव-गरिमा है। पूर्वजों के काम को हम आगे बढ़ाएँ, इसी मे हमारा सपूतपन है। स्वकाल में प्राचीन काल के अन्धानुकरण के अतिरिक्त हमे कोई गुण ही न दिखाई दे, भूत को प्राप्त करना ही हमारे वर्तमान का ध्येय हो, यह हमारी हार है, मानव जीवन की हार है। हाँ, प्राचीन के प्रति, पूर्वजों के प्रति, प्राचीन साहित्य के प्रति, हमे गौरव की अनुभूति होनी चाहिए। और सचमुच प्राचीन मे एेसी सामग्री है जिस पर गौरव किया जाए, पूर्वजों मे एेसे श्रेष्ठ व महान् व्यक्ति हैं जिनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की जाय, प्राचीन साहित्य मे एेसे अमूल्य जीवन तत्वों का निरूपण या महान जीवनोपयोगी सिद्धान्तों का प्रतिपादन है जिन्हें ग्रहण किया जाए। पर यह सब विवेक-पूर्वक होना चाहिए। हमें गौरव हो पर अहंकार न हो, हमारी श्रद्धा अंधश्रद्धा न हो, हमारा अनुकरण अंधानुकरण न हो, यह नितांत आवश्यक है, अन्यथा हम भटक जायँगे, हम पथ भ्रष्ट हो जायेंगे। आखिर, एेसी भी बाते प्राचीन मे है, जिनको विवेक ग्रहण नहीं कर सकता, और जो श्रद्धा का विषय बनने के योग्य नहीं है। पूर्वजों मे एेसे व्यक्ति भी है, जिन पर गौरव नहीं किया

जा सकता। क्या हम ही ऐसे काम नहीं कर रहे हैं, जिन के लिए हमारी संतानें हम पर फूल नहीं बरसायँगी, शर्म से गरदन ही झुकायँगी। कल ही की बात है। इंसानियत का दावा करने वालों ने, 'ईमान लाने वालों' ने, खुदा के 'बन्दों' ने, शैतानियत दिखाई, ईमान को हलाल किया, रहम, इंसाफ और इंसानियत के खून से हाथ रँगे। विश्व बन्धुत्व और मानव-धर्म की दुहाई देने वालों ने, अहिंसा दया न्याय और सेवा का दम भरने वालों ने, धर्म और संस्कृति के 'पुजारियों' ने मानवता को रौंदा और रुलाया, अहिंसा और दया की धज्जियाँ उड़ाईं, धर्म और संस्कृति का गला दबाया। लाखों की संख्या मे निरीह निरपराध नर-नारी मारे गए। करोड़ों बेचारे बे-घरबार हो गए, बरबाद हो गए। नंगी स्त्रियों के जुलूस निकाले गए, उनकी इज्जत पर डाका डाला गया। बच्चों को टाँगे पकड़ कर चीर दिया गया। कैसे-कैसे दिल दहला देने वाले कुकृत्य हो गए, जिसे सुन कर निष्ठुरता के भी रोंगटे खड़े हो जायँ ? क्या आने वाली संताने हम पूर्वजों के इन काले कारनामों पर गौरव करेगी ? नहीं। जो काले कारनामे पहिले हुए हैं, जो ऊँचनीच की खाई खोदकर अहंकार और शोषण की आँधी चली है, जो धर्म और संस्कृति का नाम लेकर व्यवस्थित व संगठित रूप से मानवता को खण्ड-खण्ड त्रस्त व पीड़ित किया गया है, जो सतीत्व की दुहाई देकर नारीत्व को लाँछित व पददलित किया गया है, जो अन्धश्रद्धा अन्धानुकरण की दम घोटनेवाली हवा फैलाई गई है, क्या हम इन सबको सिर-माथे से

लगाएँ ? नहीं। हमें सत्य और कल्याण की, सच्चे धर्म की, यथार्थ साधना करनी है, मानव-जीवन को विकसित व परिष्कृत करना है तो हमें हंस-विवेक से काम लेकर भूल से सार खींचना होगा, निःसार या मल छोड़ देना होगा, और यह तभी संभव है, जब हमें प्राचीनता का मोह, या अन्ध-उन्माद न हो, आत्म-विश्वास या आत्म-सन्मान के भुलावे में परम्परा विशेष का मिथ्याभिमान व अहंकार न हो, दुनिया भर की सारी अच्छाइयों का ठेका किसी एक श्रंखला को ही देने का पक्षपात या कदाग्रह न हो। इसी में 'प्राचीन' का सच्चा आदर है, पूर्वजों की वास्तविक प्रतिष्ठा है और इसी में हमारी शान है।

स्वकीयवाद

पुरातनवाद के साथ ही स्वकीयवाद की दुहाई भी दी जाती है और इस बात पर जोर दिया जाता है कि अपनी भारतीयता को अभारतीय या परकीय प्रभाव से दूर रखकर या परकीयता मे भारतीयता को अशुद्ध व अपवित्र न कर, बाहर से नहीं बल्कि स्वयं से ही अथवा अपने ही इतिहास व परम्परा मे प्रेरणाएँ लेकर, स्वत्व पर ही भारतीयता को निर्धारित किया जाए। पर, जिस तरह प्राचीनता के अन्ध उन्माद में सत्य और कल्याण की हत्या है, उसी तरह स्वत्व के हठाग्रह मे न सत्य है, न कल्याण है।

आदर्श और व्यवहार

उपनिषद् में कहा है—जो काम अभेद-भावना की ओर ले जाता है, वह सत्कर्म है, कर्त्तव्य है, करणीय है तथा जो काम भेदभावना पर अवलंबित है, वह दुष्कर्म है, अकरणीय है। 'सत्वेषु मैत्री' की समस्त प्राणियों को मित्र मानने की भावना हमारी दैनिक प्रार्थना का अंग है। 'वसुधैव कुटुम्बकम' का महामंत्र तो प्रसिद्ध ही है। गीता सूत्र पिटक अंजील अवस्ता कुरान बाइबिल, आदि सभी धर्म-ग्रंथो मे जगह-जगह मानव-धर्म का निरूपण और महिमागान मिलता है। महापुरुषो ने सदैव मनुष्य को विश्व बन्धुत्व व मानवता का पाठ पढ़ाया है। संसार के समस्त प्राणियो से, विशेषतया सम्पूर्ण मानव-जगत से, अभेद या तादात्म्य स्थापित करना मानव जीवन की बड़ी से बड़ी साधना

मानी गई है और मनुष्य इसकी दुहाई देते नहीं थकता है। आज भी वह अपनी इस कला में कुशल है। पर दूसरी ओर जब हम मानव की अन्तःवृत्तियों को टटोलते है, सामाजिकता, जातीयता व राष्ट्रीयता के नाम पर व्यवहार में मानवता को खंड-खंड करने की उसकी नीति व कार्य-प्रणाली पर दृष्टि डालते है तो हमें निराशा होती है। मनुष्य संकीर्ण व क्षुद्र स्वार्थों में पड़कर अपने महान मानवीय आदर्शों को भुलाता आया है, वचन से मानवता व विश्व-व्याप्त सहृदयता की बात करते हुए भी कर्म से छोटी छोटी सीमाओं व चहारदीवारियों में घेर कर मानव-जीवन का गला घोंटता रहा है। वह इतना गिर गया है कि आदर्श और व्यवहार के इस असामंजस्य को ही वह अनिवार्य और अपरिहार्य मानने लगा है। आदर्श और व्यवहार में बड़ा अन्तर है—यह कह-कह कर वह अपनी अकर्मण्यता और शिथिलता को छिपाता रहा है। आदर्श और व्यवहार के श्रेणी भेद को वह तात्विक व मूलभूत ही मानने लगा है। वह भूल गया है कि व्यवहार भले ही आदर्शमय न हो पर आदर्शोन्मुखी तो होना ही चाहिये तथा निरन्तर आदर्श की पूर्णता की ओर उसे बढ़ते रहना चाहिये। वह आदर्श क्या जो व्यावहारिक जीवन में काम न आए या जो व्यवहार को मार्ग न दिखाए ? और वह व्यवहार क्या जिसमें आदर्श की प्रेरणा न हो ? आदर्शवाद निरी कल्पना की उड़ान या स्वप्न-दर्शन नहीं है, वह यथार्थवाद है। आदर्श और व्यवहार के बीच रेखा खींचना आदर्श को गिराना और व्यवहार को

भ्रष्ट करना है। दुनिया में यह भ्रष्टाचार होता रहा है और हो रहा है! हमारे देश में तो आज इस सर्वनाश की आँधी ही चल पड़ी है और वह राष्ट्रीयता या भारतीयता के नाम पर।

स्वकेन्द्रीकरण

स्वतन्त्रता के इस अभ्युदय-काल मे जब कि राष्ट्र-पुनर्निर्माण व विश्व-शान्ति की बृहद् समस्या हमारे सामने खड़ी है, हम ऊँचे आदर्शों को भूलकर संकुचित व क्षुद्र स्वार्थों में फंस कर रह जाये, एक और अखंड मानवता, मानव-धर्म व मानवीय आदर्श को भुला कर छोटे-छोटे दायरो मे घिर जाये, यह हमारा कितना बड़ा दुर्भाग्य है। एक ओर हम धर्म और संस्कृति की दुहाई दे, बात-बात मे ईश्वर तक पहुचे, मानवता विश्व-बन्धुता आदि की लम्बी-चौड़ी बाते करे और दूसरी ओर भारतीयता के नाम पर, राष्ट्रीयता के नाम पर, स्वकीय-परकीय-भेद की कल्पना को वास्तविक जीवन पर बुरी तरह आच्छादित करे, एक संकीर्ण वृत्त मे ही रहने और बाहर से कुछ भी ग्रहण न करने का हठ करे, अपने को ही सत्य और कल्याण का ठेकेदार मानकर महान् मानव-सम्प्रदाय से आँखे मींचले तो यह कहाँ तक उचित है? स्वत्व की इतनी सकीर्ण भावना क्या वाँछनीय है? क्या विश्व के महात्माओं से स्फूर्ति पाने व प्रेरणा लेने की क्षमता व पात्रता न रखना हमारे लिये शोभनीक है ? सचमुच राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, राणा प्रताप, शिवाजी व महात्मा गाँधी आदि अनेक श्रेष्ठ महात्माओं पर हम गर्व कर सकते है और उनसे बहुत कुछ सीख

सकते हैं और सीखना ही चाहिये, पर क्या ईसा का मेवाधर्म व महान् बलिदान, मौहम्मद का भाईचारा, लेनिन, मेजिनी व वाशिंगटन की स्वातन्त्र्योसना, कार्लमार्क्स का त्याग, तपस्या तथा बौद्धिक अनुसन्धानों से भरा हुआ महान् जीवन, शेक्सपीयर, टालस्टाय, मोपांसा, शैली, क्रोपाट्‌मकिन, आदि महान् साहित्यकारों की विद्योपासना, गैलेलियो, स्टीफेन्सन, न्यूटन, आदि विज्ञानवेत्ताओं की विज्ञान-साधना, इनमे हमारे लिये कुछ भी प्रेरणाजनक व ग्रहणीय नहीं है ? जो समय की दृष्टि से दूर है, बहुत दूर है, उसमे हम प्रेरणा पा सकते है तो जो स्थान की दृष्टि से दूर है, उससे क्यों नहीं पा सकते और क्यों नहीं पाना चाहिये ? अपनी सहानुभूति व आत्मीयता का क्षेत्र विशाल रखकर, कोरे मुंह से कह कर नहीं, भावना-गीत पढ़कर या मन्त्रोच्चारण करके ही नहीं, सच्चे हृदय से और सक्रिय रूपसे एक और अखंड मानवता की भावना हमारे जीवन का सत्य बने और हमें प्रेरणा दे, विश्व-प्रेम की विमल धारा हमारे जीवन को रस-प्लावित करे, क्या यह गौरवास्पद नही है ?

मानवता और भारतीयता

कुछ लोग कहते हैं—"मानवता या विश्व की बात तो बहुत लम्बी-चौड़ी है और सारी दुनिया की भलाई करने की बात गाँधी जी जैसे महापुरुष सोच सकते हैं पर हम तो छोटे आदमी हैं, हम तो हिंदू समाज या भारतीय राष्ट्र का ही कल्याण चाहते हैं, वही कर भी सकते हैं।" पर यहीं पूर्वा-पर-विरोध है। विश्व-

कल्याण जिसके सामने नहीं है, वह न किसी जाति का कल्याण कर सकता है न किसी और छोटे जन समुदाय या वर्ग का। दृष्टि को सार्वत्रिक और विश्व-व्याप्त बना कर ही छोटे छोटे प्रश्नों को लेकर निर्दोष व स्वपर कल्याणकारी निर्णय किए जा सकते हैं। मानवता का महान आदर्श सामने रखे बिना मानव-जीवन की कोई भी समस्या हम ठीक तरह नहीं सुलझा सकते। एक भाग का विशेष लाभ अन्य भागों के लिये हानिप्रद हो तो वह लाभ वस्तुतः या अन्तत. अलाभ ही है। लाभ के औचित्य की एक सीमा है, उस सीमा का उल्लंघन लाभ की अति है, अलाभ है. अकल्याण है। जिसके सामने मानवीयता नहीं है, वह इस तरह के अलाभ या अकल्याण की दलदल में नहीं बच सकता। वह जिस प्रश्न को भी हाथ में लेगा, उसे और ज्यादह उलझा लेगा। राष्ट्रीयता के प्रश्न को ही लें। राष्ट्रीयता के औचित्य की सीमा से अधिक लाभ की भावना ही साम्राज्यवाद या फासिस्टवाद की जन्मदाता है। अब को मनुष्य केवल मनुष्य — समझकर दृष्टि डालें तो हम देखेंगे कि विश्व के रंगमंच पर जो अनेक महायुद्ध हुये हैं, असंख्य नर नारियों के खून की जो नदियाँ बहाई गई हैं तथा बहाई जारही है जो विनाशकारी शस्त्रास्त्रों व अणु-बमों आदि के निर्माण में अपार धन व शक्ति का अपव्यय हो रहा है, उसका कारण है राष्ट्रीयता का उन्माद। यूं दुनिया भर की भलाई या विश्व-शांति की ठेकेदारी की बातें सभी करते है पर सच यह है कि प्रायः सभी के सिर पर राष्ट्रीयता

का भूत सवार है। आज का यह मनुष्याकार जन्तु पहिले एक राष्ट्र का नागरिक है, फिर मनुष्य है। वह भूल गया है कि मनुष्य सबसे पहिले मनुष्य है, जन्म जीवन और मृत्यु में मनुष्य है, मूलतः मनुष्य है, इसलिये उसे मनुष्य की हैसियत से अपने को और दुनिया को देखते हुये ही राष्ट्रीयता के प्रश्न पर या अन्यान्य प्रश्नों पर विचार करना चाहिये। हो सकता है कि ऐसी मानव-दृष्टि कभी राष्ट्रीयता के अनुकूल हो, कभी प्रतिकूल हो। सिद्धान्त या मूलभूत नीति की दृष्टि से न राष्ट्रीयता अच्छी है, न बुरी है। वह मानवता या विश्वहित के अनुकूल हो तब अच्छी है, प्रतिकूल हो तब बुरी है। विश्व-कल्याण के लिये आवश्यक है कि अच्छी राष्ट्रीयता को ग्रहण किया जाय, बुरी राष्ट्रीयता का त्याग किया जाय। जब राष्ट्रीयता उन्माद में आये, तभी उस पर लगाम लगना चाहिये, उसे न बहकने देना चाहिये। गुलाम राष्ट्र आज़ादी के लिये लड़े तो उस की राष्ट्रीयता विश्वहित के अनुकूल है और वह ऐसी महान् है कि उसके लिये प्राणों का उत्सर्ग भी गौरव का विषय है। लेकिन यदि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को गुलाम बनाने या उसका शोषण करने के लिए प्रयत्न करे तो वह राष्ट्रीयता विश्व-हित के प्रतिकूल है और उसके विरुद्ध संघर्ष करना व उसे मिटाने के लिए मर-मिट जाना मनुष्य का कर्त्तव्य है। इस तरह विश्व को अपने सामने रखते हुए और किसी भी राष्ट्र विशेष को उसके एक अंग के रूप में ही देखते हुए उस

राष्ट्र की समस्याओं को समुचित व निर्दोष रूप से सुलझाया जा सकता है, बाहर से आंख मींच कर या केवल उस राष्ट्र को ही सामने रख कर उन्हे सुलझाया जायगा तो ठीक-ठीक निर्णय न हो सकेगा। फिर, इस तरह की पद्धति से हमारी दृष्टि और भी निखरेगी, यहां तक कि फिर हम देशों और राष्ट्रों का भेद मिटा कर सम्पूर्ण संसार को ही एक राष्ट्र बनाने की ओर ध्यान देंगे। इसी तरह और छोटी-छोटी समस्याओं को सुलझाने के लिये भी इसी नीति से काम लेना पड़ेगा। एक राष्ट्र के भीतर के छोटे-छोटे प्रश्नों को हल करने के लिये सात्विक या मानवता-मयी राष्ट्रीयता के आदर्श को सामने रखना होगा। हम अपने ही को लें। यूं हम कितने ही मुंह-मियां-मिट्ठू बनें पर हम राष्ट्रीयता के आदर्श से गिरे हुये है। हमारी सारी हृदय-वृत्तिया, सारी शुभ भावनायें व आकांक्षाये, परिवार वंश व छोटे-छोटे समुदायों में इतनी बुरी तरह या अनुचित रूप से जकड़ गई है कि एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के साथ जो मनुष्यत्व-प्रेरित आत्मीयता का सहज प्राकृतिक सम्बन्ध है, उसे स्वीकार करने के लिये हमारे पास न खुला दिल है, न दिमाग है। अपने-अपने तुच्छ और क्षणिक स्वार्थों को लेकर डेढ़ ईंट की मसजिद अलग बनाने में ही हम अपना गौरव समझने लगे है। जातिमद, कुलमद, ऊंचनीच की क्षुद्र व नीच मनोवृत्ति जिनमे है, उनमे राष्ट्रीयता चमड़े तक भले ही हो पर उनकी खाल उधेड़ी जाय तो भीतर साम्प्रदायिकता, जातीयता और न जाने क्या-क्या

घृणास्पद दिखाई देगा ? फिर, वे लोग जिन्हे गरीबों का, किसानों और मजदूरों का शोषण करते हुये कोई संकोच नही है, जो काले बाजार के खूनी डाकू है, और जिन्हे अपने तुच्छ स्वार्थों के लिये दीन दुखियों की आंसू भरी आंखों और दर्द भरी आहों का कुछ भी ध्यान नहीं है, वे क्या राष्ट्रीय है ? यहां कितने ऐसे भारतीय है जो मनुष्य तो क्या, भारतीय भी बहुत पीछे है, उससे पहिले हिन्दू मुसलमान पारसी सिख ईसाई जैन बौद्ध आदि है, इससे भी पहिले है ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र कायस्थ शेख पठान आदि, इसमे भी पहिले है सरयूपारी कान्यकुब्ज मालवीय राजपूत चौहान श्रीवास्तव माथुर अग्रवाल खंडेलवाल सुन्नी शिया मोमिन और न जाने क्या-क्या, और इससे भी पहिले जो कुछ है वह सभ्यता के नाते न लिखना ही ठीक है। इस तरह एक व्यापक दृष्टिकोण को लेकर जब हम छोटी-छोटी चीजों पर दृष्टि डालेंगे या छोटे-छोटे प्रश्नों पर विचार करेंगे, तभी हम वास्तविकता के प्रति न्याय कर सकेंगे।

विश्व— एक परिवार

फिर, भारतीयता को अन्य राष्ट्रों व मानव-समुदायों से निरपेक्ष रख भी नहीं सकते। आज दुनिया बहुत छोटी हो गई है। यातायात की सुविधाओं ने, दीर्घकालिक पारस्परिक आदान-प्रदान ने, तार फोन रेडियो वायरलेस आदि वैज्ञानिक आविष्कारों के परिणाम-स्वरूप सम्पर्क की अति-सुलभता ने, इस दुनिया को कुछ ऐसा बना दिया है कि आज इसका कोई

भी भाग स्वकेन्द्रित बन कर नहीं रह सकता। एक जगह की घटना का प्रभाव अन्यत्र न पड़े, यह असम्भव है। हमारे देश में रेत से अभ्रक निकाल कर बाहर न भेजा जाय तो दुनिया के बिजली के बड़े-बड़े कारखाने पट हो जाएं और बिजली के अभाव से उद्योग-धन्धों को बड़ी हानि पहुँचे। अमरीका, आस्ट्रेलिया, आदि देशों से गेहूँ हमारे देश में न आये तो हर वर्ष यहां अकाल के दर्शन हों और लाखों व्यक्तियों को भूख की ज्वाला में अपने प्राणों की आहुति देनी पड़े। और भी न जाने कितने देशों में अकाल हो व होता रहे यदि एक देश से दूसरे देश में अन्न न जाए। अमरीका में सोने का भाव घटता या बढ़ता है तो तुरन्त उसका प्रभाव हमारे देश के व्यापार पर व असंख्य व्यक्तियों पर पड़ता है। इंग्लैंड अमरीका जर्मनी आदि देशों से हमारे देश में मशीनें व कल-कारखाने न आयें तो गजब हो जाये। वास्तव में आज दुनिया में अलगाव से काम चल ही नहीं सकता है और ऐसी स्थिति में भारतीयता के नाम पर संकीर्ण स्वकीयता की बात कहने में सिवाय इसके कि वास्तविकता को झूठा जामा पहनाया जाये और भ्रम वश भारतीयता या राष्ट्रीयता को ही जबर्दस्त घाटा हो और कुछ भी सम्भव नहीं है। सच यह है कि हमारी भारतीयता का लाभ भी इसी में है कि वह मानवीयता का अंग बने, विश्व-परिवार के निर्माण में हाथ बटाये। निश्चय ही स्वकीय-परकीय की संकीर्ण भावना को यहां कोई स्थान ही न

होगा तथा व्यवहार में स्वकीयता का जो आचरण होगा, वह पक्षपात, मोह, अहंकार आदि भावों को लेकर न होगा, वास्तविकता व व्यावहारिकता की दृष्टि से ही होगा और कहीं भी मानवता की प्रतिष्ठा को उससे ठेस न पहुँचेगी।

सत्य-दृष्टि

यहां यह अभिप्राय न समझ लेना चाहिये कि अपने पास जो सत्य है उसे त्याग कर दूसरे के असत्य को ग्रहण किया जाय। सत्यासत्य के निर्णय के लिये जिस तरह प्राचीनता में से सत्य लेना और नवीनता में से असत्य निकालना जरूरी है, उसी तरह 'स्व' के सत्य को स्थिर रखने और 'पर' के असत्य से बचने की भी ज़रूरत है। साथ ही अपने पास जो असत्य है, उसे छोड़ना और दूसरे के पास जो सत्य है उसे ग्रहण करना भी आवश्यक है। हमारे सामने यह ध्येय न होना चाहिये कि जो अपना है, वही सत्य है, इस तरह की विचारधारा में सत्य की पूजा नहीं है, अहंकार की तुष्टि है। हमारी भावना यही होनी चाहिये कि जो सत्य है वह अपना है, फिर भले ही वह सत्य कहीं भी हो, किसी के पास हो, किसी भी रूप में हो, किसी भी मात्रा में हो। हमारी इस सत्य-दृष्टि में ही मानवता की पूजा है और राष्ट्रीयता या भारतीयता की चरम साधना है।

शिवाजी का उदाहरण

स्वकीयवाद की दुहाई दे-देकर प्रायः शिवाजी का उदाहरण

दिया जाता है और उनके अनुकरण की आवाज़ उठाई जाती है। पर यदि हम चाहते है कि हमारी राष्ट्रीयता फले-फूले और मानवता को प्रतिष्ठित कर मुग्व व कल्याण की निर्दोष साधना करें तो हमें, जैसा कि हम पहिले विवेचन कर चुके हैं। अन्धानु-करण की दल-दल से निकलना ही होगा और इतिहास से सबक़ सीख कर तथा परिस्थिति का विवेकपूर्वक अध्ययन व निरीक्षण-परीक्षण कर प्रगति के पथ पर आगे बढ़ना होगा। तब हम किसी भी व्यक्ति का, चाहे व्यक्तित्व की दृष्टि से वह कैसा भी महान हो और उसके लिए हमारे हृदय मे कितना भी आदर व सम्मान का भाव हो, अन्धानुकरण नहीं करेंगे बल्कि उसके जीवन से सद्-प्रेरणाएँ पाकर तथा उसकी भूलों व त्रुटियों से बचे रह कर भविष्य को निष्कंटक बनाने का प्रयास करेंगे। शिवाजी एक प्रतापी पराक्रमशाली महापुरुष थे। उनके व्यक्ति-त्व की महानता के विषय मे दो मत नहीं हो सकते। पर यह निःसंकोच कहना ही होगा कि शिवाजी ने ठीक दिशा मे क़दम नहीं उठाया। शिवाजी के शासन-तंत्र को ग़ौर से देखे तो हमे पता लगेगा कि उस की सब से बड़ी कमजोरी यही थी कि उसने राष्ट्र को एक धार्मिक और जातीय सगठन का रूप देने का प्रयत्न किया था और यही उसके पतन का सब से बड़ा कारण भी बना। गौ-ब्राह्मण की प्रतिष्ठा उस का प्राण थी, रूढ़ि-प्रियता वहां सम्मान्य थी। भारतीय राष्ट्र पर मराठा साम्राज्य थोपने की भी लालसा वहा थी। सरकारी नौकरियों के वितरण

का आधार जाति-पांति-भेद था। वास्तव में शिवाजी ने हिन्दू समाज के ढांचे को ज्यों का त्यों रखना चाहा और यह चाहा कि कर्मकाण्ड व जाति-भेद पर निर्धारित हिन्दू समाज का राष्ट्रीय संस्करण हो और वह सारे देश पर छा जाए। इस तरह जाति-पांति के असंख्य भेद-भावों से जर्जर तथा नारंगी की तरह बाहर से एक पर भीतर से विभाजित व जीर्ण-शीर्ण समाज को संगठित करने के असंभव व अव्यवहार्य कार्य को उन्होंने संभव करना चाहा। टैगोर के शब्दों में शिवाजी ने बालू के कणों से रस्सी बटनी चाही पर यह कार्य किसी भी मनुष्य की शक्ति से बाहर है और विश्व के दैवी नियमों के भी विरुद्ध है और इसीलिए वे सफल न हो सके।

परिस्थिति-परिवर्तन

शिवाजी के समकालीन मुसलमान शासक तथा उनके उत्तराधिकारी समाज-सुधार की ओर से विमुख थे ही, बल्कि उनका हित ही इसी में था कि यहां सुधार व सुव्यवस्था न हो। फिर, मुसलमान शासकों के बाद अंग्रेज आए। उन्होंने भी समाज-सुधार-सम्बन्धी कर्त्तव्यों की ओर ध्यान नहीं दिया। अपने शासन के प्रारंभिक काल में उन्होंने विधवा-विवाह को वैध बनाने तथा सती दाह आदि अनेक अमानुषिक कुप्रथाओं को रोकने का सराहनीय कार्य किया, परन्तु सन् १८५७ ई० के विद्रोह के पश्चात उन्होंने भी तटस्थता की नीति धारण करली। आखिर, उन्हें भारतीयों से ऐसी हमदर्दी न थी कि वे उनके सुधार के लिए

अपनी राज-सत्ता को खतरों व कठिनाइयों मे डालते। पर आज अंग्रेजों के जाने के बाद स्थिति बदल गई है। आज हम ही अपने देश के शासक व भाग्य-विधाता है और हम पर ही आज यह जिम्मेदारी है कि हम पिछली भूलों से सबक लेकर अपने भविष्य को समुन्नत व उज्ज्वल बनाएँ और एक आदर्श भारतीय राष्ट्र का निर्माण करे।

भूल-सुधार

इस तरह शिवाजी का उदाहरण व उनके बाद का इतिहास, तथा उनसे पूर्वकाल का भी घटना-चक्र, हमे यह चेतावनी दे रहा है कि हम अब जाति-भेद, वर्ण-भेद व सम्प्रदाय-भेद के आधार पर राष्ट्र का नव-निर्माण न करे तथा धर्म और संस्कृति की झूठी दुहाइयो से ऊपर उठ कर स्वस्थ राजकीय तत्त्वो को ही प्रतिष्ठित करे। यहीं हमे यह आदेश मिल रहा है कि राज्य और धर्म की मर्यादाओ को, जहा तक हो सके, सुनिश्चित कर ऐसी व्यवस्था लाएँ जिस मे दोनों की टक्कर न हो, न धर्म राज्य के कार्यों मे हस्तक्षेप करे और न राज्य धर्म के मार्ग मे बाधक बने। अब तक जो धर्म और राज्य की खिचड़ी पकाई जाती रही है, उससे सर्वनाश ही हुआ है। अब यह भूल सुधरे, इसी मे राष्ट्र का कल्याण है।

राज्य और धर्म

राज्य धर्म मे हस्तक्षेप न करे, इस का यह अभिप्राय नहीं

है कि राज्य धर्म के मर्यादा-उल्लंघन का प्रतिकार न करे अथवा धर्म की अधर्म व विनाश-लीला का वह मौन साक्षी बना रहे। धर्म का नाम लेकर जो अधर्म समाज व राष्ट्र को खोखला कर रहा है और जिससे आक्रान्त होकर असंख्य नर-नारी अभी तक भी जीने लायक जिन्दगी बिताने में असमर्थ है, राज्य का कर्त्तव्य है कि उसे मिटाए। धर्म मे दखल न देने का यही अर्थ है कि हर व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता हो कि वह चाहे जिस धर्म का पालन करे— चाहे वह इस्लाम के अनुसार नमाज पढ़े, रोजा रखे, ताजिया व मुहर्रम निकाले, ईद मनाए, मुर्दे को दफन करे, निकाह करे, हज करे, चाहे वह हिन्दू धर्म के अनुसार राम कृष्ण ब्रह्मा विष्णु महेश दुर्गा लक्ष्मी आदि देवी-देवताओं की पूजा करे, मूर्त्ति-पूजा करे, गंगा-स्नान करे, चारों धाम की व अन्यान्य तीर्थों की यात्रा करे, होली दिवाली आदि पर्व मनाए, व्रत रखे, शव-दाह करे। इसी तरह जैनधर्म बौद्धधर्म व ईसाई धर्म आदि के अनुसार विश्वास रखने व आचरण करने का अधिकार मान्य होना चाहिए, राज्य को उसमें दखल न देना चाहिए। कोई ईश्वरवादी हो या अनीश्वरवादी, द्वैतवादी हो या अद्वैतवादी, राज्य की दृष्टि में वह नागरिक हो और अपने विश्वासों व धर्माचरण को लेकर उसका कोई अधिकार न छिने और न उसे विशेष अधिकार ही मिले, यही धार्मिक स्वतन्त्रता है जिसे मान देना राज्य का कर्त्तव्य है। पर इस स्वतन्त्रता की सीमा है और वह यह कि

वैयक्तिक जीवन के क्षेत्र से बाहर सामाजिक व राष्ट्रीय या परापेक्षी जीवन मे वह दखल न दे। मैं चाहूँ जिस तरह पूजा-पाठ व व्रत उपवास करूं और किसी भी तरह ईश्वर से नाता जोड़ूं या ला-मजहब बनकर मन्दिर मस्जिद गिरजाघर से दूर ईश्वर व परमात्मा से असम्बन्धित रह कर अपने मे ही मस्त रहूं, यह मेरा निजी प्रश्न है, राज्य को इस से क्या प्रयोजन? पर मैं इस कारण अपने को ऊंचा समझूं कि मैं द्विज हूं, दूसरे को इसलिए नीचा समझूं कि वह शूद्र है और यही समझ कर उसे मंदिर, होटल, धर्मशाला, आदि सार्वजनिक स्थानों मे जाने से रोकूं, नारी को इसलिए अधिकार वंचित व पीड़ित करूं कि वह नारी है, ये मेरे व्यक्तिगत प्रश्न हरगिज नहीं है, ये समाज के प्रश्न हैं, ये राज्य के प्रश्न है और राज्य का यह कर्त्तव्य है कि यहां मुझे वह रोके, हर किसी को रोके, कानून के द्वारा इन प्रश्नों को ठीक तरह सुलझा कर विषमताओं को मिटाए और राष्ट्रीय जीवन को एक और अखण्ड बना कर राष्ट्र को—राष्ट्र के सब अङ्गों को— परिपुष्ट व सुखी बनाए।

सच यह है कि राज्य मे हस्तक्षेप करना धर्म की अनधिकार चेष्टा है। धर्म व्यक्तिगत आचरण का विषय है। वैयक्तिक जीवन के क्षेत्र से बाहर जाकर वह औचित्य की सीमा का अतिक्रम करता है और तब वह शक्तिशाली व सत्ताधिकारी वर्ग का अस्त्र बन कर समाज व राष्ट्र में विषमता लाने और अधर्म पर धर्म की मोहर लगाने का ही काम करता है।

वर्ण व्यवस्था, जातिपांति व छुआछूत आदि की विषमताएँ धर्म की इस अधर्म-लीला के ही दुष्परिणाम है। जब हम कहते हैं कि धर्म राज्य के कार्य में हस्तक्षेप न करे तब हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि राज्य अधर्म की नींव पर स्थित हो बल्कि हमारा यही आशय है कि धर्म धर्म बना रहे और मानव-जीवन को सुख सन्तोष व शांति ही देता रहे, वह अधर्म के रूप में भ्रष्ट होकर भूतल को स्वर्ग बनाने की जगह नरक में परिणत करने की उलटी गंगा न बहाए।

धर्म-राज्य-दुरभिसंधि

धर्म और राज्य की दुरभिसंधि नई नहीं है। इतिहास, धर्म और राज्य के गठ-बन्धन की घटनाओं से भरा पड़ा है। आज भी दोनों का सम्बन्ध टूटा नहीं है। पर आज के युग की विचार-धारा राज्य और धर्म के इस बेमेल मेल के पक्ष में नहीं है और इसका कारण यही है कि इससे वास्तविक राजनीति का गला घुटता है। धर्म के आधार पर राज्य या राजनैनिक दल बनाने का अर्थ है एक ही धर्म के मानने वाले ज़मींदार और किसान, मिल-मालिक और मजदूर, पूंजीपति और गरीब, शोषक और शोषित, सभी को एक प्लेटफार्म पर एकत्रित करना, और इस का यही परिणाम हो सकता है कि बिल्कुल अस्वाभाविक रूप से विरोधी हितों के बीच झूठा मेल स्थापित कर अर्थ-वैषम्य तथा अनेक घातक विषमताओं को अभय दान मिल जाए, पूंजीपतियों, जमींदारों व राजों-महाराजों के विशेष अधिकार

व हित अक्षुण्ण रह जाएँ, किसानों, गरीबों व मजदूरों के प्रश्न यूं ही पड़े रह जाएँ, बेकारी भिखमंगी अकाल व फाक़ा-कशी की समस्याएँ उलझी ही पड़ी रहें और रोटी-कपड़े की पहेली कभी न सुलझे। यही होता रहा है और यही होता रहे, इसके प्रयत्न किए जा रहे हैं। पर इधर सर्वनाश है। राष्ट्र को सुखी व सम्पन्न बनाना है तो उसे इस चक्र व्यूह से निकालना होगा, धर्म और संस्कृति के भुलावे में जो शोषण व उत्पीड़न की आंधी चलाई जाती रही है, जो धर्म के नाम पर दुःस्वार्थों की पूर्ति व अहंकार की पूजा की जाती रही है, उसे मिटाना होगा।

अध्यात्मवाद

स्वकीयवाद के नाम पर ही अध्यात्मवाद की आवाज लगाई जाती है और पुरातनवाद से उसे शक्ति मिलती है। कहा जाता है कि अध्यात्मवाद हमारी बपौती है। पाश्चात्य देशों को भौतिकवादी कह कर उनका तिरस्कार करना हमारी आदत बन गई है। अपने को सब से बड़ा और ऊंचा मानने की अहम्मन्यता-जन्य भावना यहां हमें एक बड़ी गलतफहमी का शिकार बनाती है और हम कहने लगते हैं ‥

"परकीयों के जीवन के दृष्टिकोणों को अपना कर व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की रचना उन्हीं के ढंग पर करने की भावना हमारे अन्दर उदित हो गई है। अपने वास्तविक जीवन को भुलाकर अपनी सांस्कृतिक विचारधारा से कोसों दूर भोगोपयोग के साधनों से सम्पन्न, बाह्याडम्बर से पूर्ण और आसुरी ऐश्वर्य-सम्पन्न पाशविक जीवन के द्वारा निर्मित तथा राजनैतिक दृष्टि से बड़े-बड़े साम्राज्य और पाशविकता के द्वारा इस भूमि को छीन लेने वाले समाज का आंखों को चौंधिया देने वाला चित्र हमारे सामने रखा गया। आज भारतीय मानव कुत्ते के समान पेट-भरू जीवन का आदर्श समझ कर अपने-अपने क्षुद्र स्वार्थों की सिद्धि के लिये व्यक्तिगत रूप से तथा समष्टि रूप से राजनैतिक अधिकार पाने के लिए छटपटा रहा है। अपने जीवन-निर्वाह का स्तर ऊंचा करना चाहिए, इसी बात की चारों तरफ पुकार

है। जीवन-निर्वाह का स्तर बढ़ाने का अर्थ है बाह्य उपकरणों की दासता बढ़ाना। इसको यदि स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो यह पशु-भाव बढ़ाना है। आज भिखमंगों के समान रोटी का सवाल रख कर मानवता की निकृष्ट कल्पना की जा रही है।"

आध्यात्मिकता क्या है ?

पहिले तो यहां यही प्रश्न खड़ा होता है कि आध्यात्मिकता वास्तव मे है क्या ? निश्चय ही वह आत्मा या व्यक्तित्व के अन्तर्लोक से अपेक्षित कोई विराट भाव या अनुभूति होनी चाहिये। ईश्वर-वाद से उस का अनिवार्य सम्बन्ध मान्य नहीं किया जा सकता। जैन और बौद्ध किसी से भी कम अध्यात्मवादी नही हैं पर वे अनीश्वरवादी हैं। सभी प्राणी ईश्वर-पिता की सन्तान है अतः भाई-भाई है या प्रत्येक प्राणी मे एक सी आत्मा है, इसलिये सभी प्राणी समान हैं, ये दोनों ही अध्यात्मवादी धारायें सारे प्राणी-जगत मे और विशेषतया मानव जाति मे साम्य व अभेद-भावना लाती है और उसकी एकता व अखण्डता की मान्यता को पुष्ट करतीहै। "सत्य मेव जयते", "सत्यम् शिवम् सुन्दरम", "अहिंसा परमोः धर्म.", "जीयो और जीने दो" "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत", "वसुधैव कुटुम्बकम" ये सभी महामंत्र इसी अध्यात्मवाद का विशदीकरण करते है। प्रेम दया न्याय शांति सेवा सहयोग, ये सभी शब्द अध्यात्म-तत्त्व या आध्यात्मिकता के ही भाव मूलक तत्वों का प्रकटीकरण करते है। निश्चय ही ऐसी महान अनुभूति, भावना या विचार-धारा मे

निरपेक्ष आध्यात्मिकता विडम्बना ही कही जा सकती है। कोई भूखा न मरे, कोई बेकार ठाली और निकम्मा न हो, कोई अपढ़ या अज्ञानी न रहे, कोई शोषित त्रस्त व पद-दलित न हो, ये मंजुल व सुमधुर भाव आध्यात्मिकता से अभिप्रेत होने ही चाहिये। हिंसा-प्रतिहिंसा, शोषण, पराधिकार-अपहरण या औचित्य की सीमा से अधिक स्वलाभ की स्वार्थ-लिप्सा, ऊंच-नीच के भेदभाव की अहंकारजन्य निकृष्ट कल्पना, ईर्ष्या, स्पर्धा व शत्रुता की भावना, छल कपट बेईमानी की नीति, किसी भी मनुष्य को उसके मनुष्योचित जन्म-सिद्ध अधिकारों को न देने का दुराग्रह, निर्दोष व निरीह प्राणियों को पीड़ित करने की राक्षसी वृत्ति और ऐसी सारी वाहियात बातें, चाहे वे किसी भी नाम या दुहाई को लेकर की जायें, आध्यात्मिकता के लिये अस्पृश्य न हों तो कौन इसे दूर से ही प्रणाम न करेगा? और इन खुराफातों से पाक-साफ आध्यात्मिकता के मानवता-मयी आत्मशुद्धि-प्रधान वास्तविक स्वरूप के आगे कौन नतमस्तक न होगा?

आध्यात्मिकता का उन्माद

पर ये आध्यात्मिकता की दुहाई देने वाले इस सच्ची आध्यात्मिकता को मानते ही कहाँ है? वक्त-बेवक्त आध्यात्मिकता का राग अलापना भर वे जानते हैं। सच्ची आध्यात्मिकता को प्रतिष्ठित करने की तथा भौतिकता के इस उन्माद को मिटाने की, जो जगत में युद्धाग्नि भड़काता रहा है और जिसके सिर पर असंख्य नर-नारियों का खून सवार है, उन्हें चिन्ता नहीं है।

आध्यात्मिकता की अति, विकृति या उन्माद में हवाई बातें करना, रहस्यवाद का आश्रय लेना, अस्पष्ट या गोल-मोल और भुलावा देने वाली परिभाषाओं में भोले-भाले लोगों को डालना, धर्म और संस्कृति की मीठी-मीठी और लम्बी-चौड़ी बातें बनाना, पूर्वजों व परम्परा की अन्धोपासना करना, अतीत व प्राचीन की अन्धाधुन्ध दुहाई देना, स्वत्व या स्वकीयता की शेखी बघारना— बस, यहीं उनकी आध्यात्मिकता सिमट कर रह गई है। आध्यात्मिकता का स्पष्ट स्वरूप वे दूसरों के सामने क्या रखेंगे, उनके सामने भी वह नहीं है। आध्यात्मिकता का उन्माद वे नहीं समझ पा रहे हैं, और ऐसी मनःस्थिति में वे उन खुराफातों को भी ठीक तौर पर नहीं देख पाते हैं जिन्हें इस उन्माद ने जन्म दिया है। उदाहरण के लिये वर्ण-व्यवस्था अध्यात्मवाद की विकृति का ही एक परिणाम नहीं तो क्या है? क्या सीधे ब्रह्मा या ब्रह्म, ईश्वर या परमात्मा से या 'आध्यात्मिकता' के मूल में इसका नाता जोड़ कर करोड़ों व्यक्तियों को पशु से भी गया-बीता जीवन बिताने पर विवश नहीं किया गया है? ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, बाहु या वक्षस्थल से क्षत्रिय, जाघों से वैश्य और पैरों से शूद्र की उत्पत्ति कह कर क्या हमने आध्यात्मिकता के स्वच्छ व पवित्र जल को दुःस्वार्थ व अहंकार के मल से गदला नहीं किया है? और फिर अपने-अपने वर्ण के अनुकूल ही आजीविका या कर्म करने तथा उसकी सीमाओं में ही रह कर जीवन-यापन करने को अन्तर्यामी भगवान में

क्रीड़ा करना बता कर भगवान और भगवद्-भक्ति की दुहाई का, 'आध्यात्मिकता' के मूल तत्व का, दुरुपयोग नहीं किया गया है क्या ? शूद्र को यह उपदेश कि ब्राह्मण व अन्य उच्च वर्णों की निष्कपट भाव से सेवा करे और उसी से जो कुछ मिल जाय, उसी मे संतुष्ट रहे, क्या आध्यात्मिकता के नाम पर खुला अन्याय व अत्याचार नहीं है ? सब लोग अपने 'उचित' कर्म मे लगे रहे तभी वे यज्ञ का यथावत् अनुष्ठान कर सकते है और यज्ञ द्वारा ही वे स्वर्ग या अपवर्ग भी प्राप्त कर सकते है—क्या शोषण व पद-दलन पर आध्यात्मिकता की मुहर लगाने की कुटिल चाल यहाँ नहीं है ? जगह-जगह पूर्व जन्म के कर्मानुसार वर्ण विशेष मे जन्म लेने की बात कह कर तथा कर्म व्यवस्था मे हस्तक्षेप न करके वर्ण-धर्म के अनुसार ही कर्म करते हुये आने वाले जीवन मे ही ऊँचा वर्ण पा सकने का झूठा और छल-भरा प्रलोभन दे कर मनुष्य द्वारा निर्मित विषमतामयी शोषण-कारी वर्ण-व्यवस्था को सुदृढ़ व चिरस्थाई बनाने की कूट-नीति अध्यात्मवाद के नाम पर कलंक नहीं तो क्या है ? निश्चय ही वर्ण-व्यवस्था का पूरा ढांचा एक ऐसा खूनी फौलादी पंजा है जो आध्यात्मिकता के मखमली दस्ताने मे छिपकर करोड़ों नर-नारियों के लिये इस पृथ्वी को नरक बनाता रहा है और अभी भी बहुत-कुछ बनाये हुये है। हजारों वर्ष पहिले जो जहाँ था, आज उसकी सन्तान वहीं है, प्रगति या विकास-मय परिवर्तन का नाम तो क्या, उसकी कल्पना भी

नहीं है। क्या विश्व के इतिहास में ऐसी सर्वनाश-कारी व्यवस्था का दूसरा उदाहरण है? फिर, स्त्री का उदाहरण ले तो यहाँ भी यही अत्याचार है। स्त्री को अध्यात्मवाद के नाम पर खूब रौंदा गया है, खूब पीड़ित व पद-दलित किया गया है। उसका अपना व्यक्तित्व ही अमान्य कर दिया गया है। पति ही उसका देवता है, सर्वस्व है, भगवान है और पति से अलग उसका कोई स्वत्व ही नहीं है। वह लता-रूप में पति-रूपी वृक्ष से लिपट कर ही खड़ी हो सकती है। पतिव्रत और सतीत्व के नाम पर जी भर कर शोषण पुरुष ने इस बेचारी का किया है, उसे चिर-वैधव्य की भट्टी में तिल-तिल करके झुलसाया है, पति की देह के साथ उसे जिन्दा तक जला डालने का राक्षसी कृत्य किया है, और यह सब आध्यात्मिकता के नाम पर। बाह्य क्रिया-काण्ड के उत्पीड़न तथा निरर्थक कष्ट-सहन की आंधी भी खूब चली है अध्यात्मवाद की छत्रछाया में। साथ ही बुद्धिवाद या तर्क से काम न लेने की, अन्धश्रद्धा से विवेक भ्रष्ट कर मूढ़ताओं में डूब जाने तथा आंख मींच कर अन्धानुकरण करने की, क्या कम प्रेरणा दी है इस आध्यात्मिकता ने। और भी कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं आध्यात्मिकता की विनाशकारी लीला के। इतनी हत्यायें हुई हैं, इतने अन्याय व अत्याचार हुये हैं कि उनकी कल्पना भी मानवीय शक्ति से परे है। सचमुच जहाँ तक हमारे इस 'अध्यात्म-प्रधान' या धर्म-प्राण देश का

सम्बन्ध है, 'आध्यात्मिकता' की कमी नहीं, उनकी अति या विकृति ने सर्व नाश किया है। आध्यात्मिकता का यह नशा या उन्माद मिटे और सच्ची आध्यात्मिकता की ज्योति हमारे जीवन में जगमगाये, जरूरत इस बात की है पर हम कर यह रहे हैं कि आध्यात्मिकता की दुहाई देकर फिर उसी नशे को सिर पर सवार करना चाहते हैं, जो आज कुछ उतरने लगा है या उतर रहा है। विधि की यह कैसी विडम्बना है ?

रोटी का प्रश्न

रहा रोटी का प्रश्न। इसे भिखमंगी या मानवता की निकृष्ट कल्पना कहने में अपनी कल्पना-जगत की 'आध्यात्मिक' दृष्टि को भले ही संतोष दे दिया जाय पर यथार्थता, वास्तविकता और सत्य के प्रति इसमें न्याय नहीं हो सकता। अध्यात्मवाद की बातें भी तभी होती हैं जब पेट भरा होता है। जो भूखा है, उसे पहले रोटी चाहिये, अध्यात्मवाद नहीं। स्वयं पेट भर कर भूखों को आध्यात्मिकता का उपदेश देना और वे रोटी का प्रश्न रखें तो उस पर उन्हें कुत्ता और भिखमंगा कहना अधिम श्रेणी की क्षुद्रता है। जहां न्यायोचित अधिकार लेने का प्रश्न है, वहां भीख मांगने की वृत्ति कैसी ? भीख के लिये तो स्थान वर्ण-व्यवस्था में है बल्कि भीख, भिक्षा या दान तो उसका आधार ही है। रोटी का सवाल तो उस भिखमंगी को खत्म कर, मुफ्तखोरी और हरामखोरी को मिटा कर, श्रम को प्रतिष्ठित कर, आवश्यकता के अनुसार खाद्य व भोगोपभोग की सामग्री

पाने का सवाल है। कुत्तेपन की बात भी यहां ठीक नहीं बैठती है। कुत्ते की या पशु की तरह रोटी की भीख मांगना और जो टुकड़ा मिल जाय, उसी में संतुष्ट रहना, यह पशुता छोड़कर आज का भूखा मनुष्य मानवोचित रूप से पेट-भर खाने का अपना अधिकार मांग रहा है। वर्णव्यवस्था ने मनुष्य को हजारों वर्षों से कुत्ता बनाया है, अब वह कुत्ता मनुष्य बन रहा है। रही भौतिकता की बात। मनुष्य शरीर-धारी है इसलिये शरीर के टिकने का प्रश्न, उसकी खुराक का प्रश्न, उसके जीवन व संरक्षण का प्रश्न है, उसका सबसे पहला प्रश्न है, उसका सबसे बड़ा प्रश्न है। उपनिषद् (तैत्तिरीयोपनिषद्, सप्तम अनुवादक) में अन्न को जो ब्रह्म कहा गया है, उसका तात्पर्य भी यही है। वहां कहा है—

"मनुष्य को अन्न की निन्दा न करनी चाहिये, अन्न का महत्व समझना चाहिये। अन्न ही प्राण है और प्राण ही अन्न है। शरीर प्राण में स्थित है और प्राण शरीर में स्थित है"। धन-सम्पत्ति की कल्पना लक्ष्मी के रूप में करने और उसे देवी या भगवती मानकर उस की पूजा करने के पीछे भी इसी तरह की विचारधारा है। आवश्यकता व औचित्य की सीमा तक खाद्य व अन्य सामग्रियां उपजाने, पाने और काम में लाने का प्रश्न, रोटी-कपड़े का सवाल, जरा भी लज्जाप्रद नहीं है, उसे नीची दृष्टि से देखने का अभिनय दम्भपूर्ण है, मायाचार है। हां, यह कहा जा सकता है कि भोगोपभोग की अत्यधिक लिप्सा

न होनी चाहिये, बाह्य पदार्थों की दासता न होनी चाहिये, भौतिकता की अति न होनी चाहिये। पर आज अपने देश मे इस तरह की बाते बनाने के लिये गुंजायश ही कहां है? भूखा और नंगा देश ऐसी बाते करे तो यह उसका दम्भ है। सच तो यह है कि आज आध्यात्मिकता की नहीं, बल्कि भौतिकता की कमी से हम पीड़ित है, भौतिकता के हाथों नहीं, आध्यात्मिमता की अति या उसके उन्माद के हाथों हम बरबाद हो रहे है। आध्यात्मिकता और भौतिकता का संतुलन लाने के लिये अभी हमे भौतिकता की कमी को पूरा करना है, और साथ ही आध्यात्मिकता की अति या उसकी विकृति को हटाना है। आज देश मे लाखों-करोड़ों लोगो के पास तन ढकने के लिए कपड़ा और पेट भरने के लिये अन्न नही है, रहने के लिए स्वच्छ व हवादार मकान नहीं है, बच्चों के लिए दूध नहीं है, बीमारों के लिए दवाई नहीं है, प्यासो के लिये पानी की भी कमी है। गरीबी और कंगाली ने देश को जर्जर कर रखा है। जीवन-निर्वाह का स्तर ऊँचा क्या होगा, कोई स्तर ही नही है। यहाँ जीवन का निर्वाह नहीं किया जाता है, जीवन का बोझा लादा जाता है और मर कर ही वह बोझा हलका हो पाता है। समझ मे नही आता कि इन अध्यात्मवादियों ने कभी देश की दीन हीन दुखी व पीड़ित आत्मा और रोग ग्रस्त क्षीण कंकाल देह के दर्शन किए हैं या नहीं? ये लोग जीवन निर्वाह का स्तर ऊँचा करने की बात से जब चौंकते है तब यही समझ मे आता है कि इन्हें शोषणमयी

व्यवस्था के विनाश का, दलित व त्रस्त वर्गों के जागरण व उत्थान का, वर्ण-व्यवस्था के पतन का, ब्राह्मणवाद की खनी इमारत के धराशायी होने का, भय है। आध्यात्मिकता के विनाश का भय वहाँ न है, न हो ही सकता है। सच्ची आध्यात्मिकता की चिंता उन्हें है ही कहाँ ? एक और अखण्ड मानवता के तत्व पर भारतीयता या राष्ट्रीयता को स्थित करने की भावना उन से दूर है, बहुत दूर है। आध्यत्म-साम्यभाव का विराट सत्य उन्हें अमान्य है। ईश्वर-विषयक उनकी मान्यता खोखली है। विश्व-कुटुम्ब उनके जीवन का सत्य नहीं है।

संस्कृति के संस्करण

अध्यात्मवाद के नाम पर संस्कृति की लम्बी-चौड़ी बातें करने का फैशन तेजी से चल पड़ा है। हम इस विषय में पहिले कह भी आए हैं पर क्योंकि संस्कृति अध्यात्मवाद का एक अंग है या उसे बना दिया गया है, इसलिए संस्कृति के मूल प्रश्न पर यहाँ एक दृष्टि डालना असंगत न होगा।

'संस्कृति' की असंख्य परिभाषाएँ व व्याख्याएँ की गई है पर कोई भी परिभाषा या व्याख्या ऐसी नहीं है जिसे परिपूर्ण या सर्वांगीण कहा जासके। विभिन्न दृष्टिकोणों व विचारधाराओं की अपेक्षा से तथा विभिन्न परिस्थितियों व आवश्यकताओं एवं विभिन्न क्षेत्रिक व कालिक मर्यादाओं की पृष्ठ भूमि में संस्कृति को देखने व समझने का प्रयास किया जाता रहा है और परिणाम-स्वरूप संस्कृति के अनेकानेक 'संस्करण' होते रहे है। यह अनेकरूपता

स्वभावतः अनिवार्य है ही, साथ ही वांछनीय भी है। एक-रूपता का आग्रह मिथ्या और हेय है। पर, इस अनेकरूपता में— इस बाह्य अनेकता में— अंतरंग या आधारभूत एकता हो, सभी में अन्त. सामञ्जस्य हो, यह परम-इष्ट है, अन्यथा संघर्षों, व विषमताओं के बीच संस्कृति का गला घुंट जायगा, उस का प्राणान्त हो जायगा और वहां रह जायगा सज्ञाविहीन निस्तेज निष्क्रिय अस्थि-पंजर, शव मात्र। और यह एकता या सामञ्जस्य तभी सुलभ व सभव है जब बाह्य रूपों के पीछे पारस्परिक आदान-प्रदान का व्यापार अबाधित हो, सहज गतिशीलता व विकास-प्रक्रिया निर्बाध हो। निश्चय ही ऐसी सजीव व स्वस्थ स्थिति में परिष्करण— युग-युग की नव-चेतना, परिस्थिति व आवश्यकता के तदनुरूप नव-नव परिवर्तन — होगा ही और तभी सस्कृति फले-फूलेगी, धन्य व कृतकार्य हो सकेगी। पर, दुर्भाग्यवश सहज मानवीय दौर्बल्य ने ऐसे स्वच्छ व स्वस्थ वातावरण को अलभ्य बना दिया है। इस भूले और बहके हुये मानव ने अभिव्यक्ति को ही तत्व मान लिया है, बाह्य रूप में ही अन्त. प्राण की 'स्थापना' करली है, विकलांग को ही सर्वांग समझ लिया है, शरीर को ही आत्मवत् ग्रहण कर लिया है। इसी भ्रम ने, कम-से कम स्वेच्छित व सहज रूप में, पारस्परिक सहयोग के मार्ग को अवरुद्ध कर दिया है, आदान-प्रदान की सुव्यवस्था को अव्यवहार्य बना दिया है। यही कारण है कि संस्कृति के विभिन्न 'संस्करण', स्वल्प काल के सांस्कृतिक नव-संचार व अभ्युदय के उपरान्त ही, अपरिवर्तनीय

व अन्तिम रूप से पूर्ण-परिपूर्ण-सम्पूर्ण संस्कृति—स्वयं का दंभ-पूर्ण अभिनय करने लगते है और तभी संस्कृति की चिर प्रवाह-शील जीवन-धारा रुद्ध हो जाती है, अभिव्यक्ति मे संस्कृति की प्राणवान कला नि शेष हो जाती है तथा 'संस्करण' विकृत व भ्रष्ट होकर, साँचों के रूप मे स्थिर व यंत्रवत् बन कर, संस्कृति के मूल तत्व का ही व्याघात करने लगते है। ये साँचे संस्कृति के नाम पर मानव-जीवन को एक विशेष प्रकार ही ढालने का आग्रह करते है, वल्कि इस तरह की नपी-तुली ढलाई करने का उन्माद ही इन पर आच्छादित रहता है। बहुतों की धारणा है और संभवत: यह तथ्यपूर्ण ही है कि यहां मूल मे ही भूल है। मानवीय दुर्बलता जन्म से ही संस्करण के वाह्य सांस्कृतिक रूप की ओट मे साँचे वना-बना कर ऐसी ढलाई करना चाहती है और करती भी है। निश्चयही यह ढलाई सामूहिक रूपसे घातक व अहितकर है। साँचा कैसा भी बने, अपने क्षेत्र व काल की परिस्थितियों व आवश्यक्ताओं ही से वह अपेक्षित होगा और इन के परिवर्तित होने पर जब सांचा न बदलेगा, जैसा कि स्वभावत: वह बदलता भी नही है अथवा उस क्रम व अनुपात मे नहीं बदलता है जैसा कि उसे बदलना चाहिये, तब यह ढलाई मानव-जीवन का गला ही घोंटेगी। एक विशेष साँचे मे ही ढलने या फिट होने मे मानव-जीवन का सहज व स्वाभाविक विकास रुकेगा ही। यूं इन साँचो ने इतिहास-निर्माण में यथेष्ट रूप मे हाथ बंटाया है और अपने-अपने स्वल्प काल मे मानव-जगत को बहुत लाभ भी पहुँचाया है पर तत्पश्चात

परिस्थिति-परिवर्तन-जन्य प्रति-परिस्थिति की अनुकूलता स्वभावतः वहां न रहने से जो हानि हुई है और होती रही है, आगे चल कर वह पूर्व-संचित लाभ से बहुत बढ़ गई है और अन्ततः उन सांचों से या हर ऐसे सांचे से सुख की अपेक्षा दुख कहीं अधिक हुआ है। समयानुकूल परिवर्तन या सहज विकास को रोकने वाली जितनी भी चीजें हैं, जितनी भी व्यवस्थाएँ—बाड़े या सांचे—हैं, जितने भी संगठन या विधान हैं, सूत्र रूप में उनकी यही करुण व दुखान्त कहानी है।

मानव-संस्कृति

पर, सच यह है कि यह कहानी मानव की अदूरदर्शिता व मूढ़ता की कहानी है, संस्कृति के बनाये हुये या गढ़े हुए सांचों की कहानी है, संस्कृति की—सच्ची संस्कृति की—कहानी नहीं है। संस्कृति वस्तुतः ऐसी कुछ है ही नहीं कि उसका कोई एक सांचा बनाया जा सके। संस्कृति मानव-जीवन का एक विराट सत्य है। अपनी हर यथार्थवादी परिभाषा या व्याख्या के अनुसार, अपने हर रूप में, संस्कृति आचार-विचार—आदर्श-व्यवहार—की ऐसी जीवन-धारा है जो मानव-जीवन के सर्वांग को मानवीय सुस्निग्धता व अन्त स्वास्थ्य से परिप्लावित करती हुई, मानव के अन्तर्लोक को आलोकित एवं उसके बहिर्जगत को सुव्यवस्थित बना कर, मानव को मानवता के महन् आदर्श की ओर बढ़ाती है और निरन्तर बढ़ाती रहती है। यूं भी कह सकते हैं कि

एक और अखण्ड मानवता संस्कृति की आधार-शिला है। अखिल विश्व इसका वाहन है और महाकाल इसका सारथी है। यूं संकीर्ण या परिमित क्षेत्रों व जन-समुदायों की अपेक्षा से इसके अनेक बाह्य रूप रहे हैं और हैं, पर वे स्वयं अलग-अलग संस्कृतियां न हो कर एक और अखण्ड मानव संस्कृति के अलग अलग अङ्ग या पहलू ही हैं और, यदि ये रूप साँचों के रूप में विकृत व भ्रष्ट नहीं बन गये हैं, इनकी बाह्य विभिन्नता की तह में आभ्यंतरिक समता व एकता है और होनी ही चाहिये। कुछ सुनिश्चित विचारों या भावनाओं को लेकर, रहन-सहन, खान-पान या वेष-भूषा के कुछ विशेष ढगों या तरीकों को लेकर, किसी लिपि भाषा या अंक के प्रश्न को लेकर अथवा अभिवादन शिष्टाचार या अन्य प्रकार के बाह्याचरण के नियमों को लेकर इस मानव जगत-व्याप्त महान् मानव-संस्कृति को आबद्ध करना अथवा भौगोलिक व कल्पना-जन्य अथवा दु:स्वार्थ-जन्य साम्प्रदायिक व जातीय सीमाओं में उसे बांधना बहती हुई जलधार को चारों ओर से घेर कर उसके स्वच्छ व स्वास्थ्य-वर्द्धक जल को सड़ाना या विषाक्त बनाना है। मानव सदा यही भूल करता आया है। उसने संस्कृति की बहती हुई जल-धारा के किनारे घाट बना कर संतोष नहीं किया है, बल्कि अपने सहज असंयम व अहम्मन्यता वश जलाशय या तालाब बना-बना कर उस जल-धार को बाँधना चाहा है, उस पर एकाधिपत्य जमाना चाहा है। यही उसने ठोकर खाई है और दुख सहे हैं।

आदर्श

मनुष्य सच्चे अर्थों मे मनुष्य बने, यही संस्कृति का चरम आदर्श है। किसी युग और क्षेत्र मे रहते हुये भी हमारी दृष्टि सार्वभौमिक व सार्वकालिक हो या हमारी सहानुभूति व आत्मीयता का वृत्त दौर्बल्यजन्य सभी संकीर्णताओं का अतिक्रम कर विश्व-व्याप्त बने, तभी यह आदर्श-साधना हो सकती है। दर्शन यहां बुद्धि की कलाबाजियों, चर्चाओं या निर्जीव पडिताई के खेलों के लिये अथवा कोरी बौद्धिक विलास-लीलाओं के लिये आकाश मे कुसुम ढूंढने के सदृश्य चिर-असफल खोजो के लिये अथवा अस्पष्ट व अबुद्धिगम्य गहनताओं के बीच स्वयं को भी खोकर सब कुछ पा लेने का वृथा सन्तोष मानने के लिये नहीं है, बल्कि प्राणी मे उसके वास्तविक स्वरूप की — मानव मे मानवीयता के निगूढ़ तत्व की—सुस्पष्ट अनुभूति व जागरूकता लाने के लिये है। ईश्वरवाद यहां एक ही ईश्वर-पिता की संतानों मे—सारे जगत के प्राणियों मे और विशेषतया मनुष्य मात्र मे—भ्रातृ-भाव लाता है और अनीश्वरवाद भी यहां अध्यात्म-साम्यवाद या व्यक्ति साम्यवाद की भावनाओं को लाकर विश्व-बंधुत्व या विश्व-कौटुम्बिकता के मूलभूत व नैसर्गिक सत्य को प्रतिष्ठित करता है। ऊँच-नीच या बड़े-छोटे की कोई अहंकार-जन्य दुर्भावना का प्रवेश यहां निषिद्ध है। नर-नारी समभाव यहाँ सर्वांगीण व सम्पूर्ण है और नर द्वारा नारी का शोषण या नारीत्व का दमन यहां

रचमात्र न होकर स्वेच्छिक सहयोग द्वारा पूर्ण मनुष्य की निष्पत्ति ही यहां है। यहां कल्पना-जन्य जातीयता की अमानवीय विषमतायें नाममात्र को नहीं हैं। यहां अस्पृश्यता है पर वह इसी अर्थ में कि घृणा अहंकार प्रतिस्पर्द्धा द्वेष वैर उपेक्षा असहयोग शोषण अन्याय अत्याचार पाप, आदि सभी असत्य व अकल्याणमयी तत्त्व यहां अस्पृश्य हैं, और इस तरह निश्चय ही 'अस्पृश्यता' यहाँ सर्वथा अस्पृश्य है। यहां समता का ऐसा ऊंचा आदर्श और उसकी ऐसी सहृदय व सच्ची भावना है कि "जीने और जीने देने" की अच्छी पर बहुत ही छोटी भावना नहीं, बल्कि "अपनी ही तरह दूसरों को जीने देने की" ऊंची भावना ही यहां जीवन का अंग है। स्वर्ग का प्रलोभन या नरक का आतंक नहीं, कर्त्तव्य की भावना व मानवीयता की उज्ज्वल व विवेकपूर्ण अनुभूति ही यहां प्रेरणाजनक है। कल्पना के बीहड़ वन में ठोकरें खाना, अदृश्यवाद का बोझा लाद कर भटकना, अन्धश्रद्धा से आंखें पट कर के भेड़ों की तरह चरवाहे के पीछे चलना, दूसरों के कानों से सुनना, दूसरों के नेत्रों से देखना और दूसरों के मस्तिष्क से ही विचार व निर्णय करना, ये सारी बातें, जो सत्य शिव व सुन्दर नहीं हैं, यहां वर्जित हैं। स्वकीय-परकीय की तुच्छ कल्पना को, प्राचीनता के मोह या अन्धानुराग को तथा नवीनता के उन्माद को यहां प्रश्रय नहीं है। "जो सत्य है वह मेरा है", यही यहां मान्य है, फिर भले ही वह सत्य कहीं भी हो। व्यक्ति और समाज

यहां अविच्छेद्य हैं। व्यक्ति समाज के लिये है और समाज व्यक्ति के लिये है। यहां व्यष्टिवाद और समष्टिवाद में संघर्ष नहीं है बल्कि पूर्ण सामंजस्य है। आध्यात्मिकता और भौतिकता के सतुलन के राजमार्ग पर चलना ही यहां मंजिल है। निरर्थक कष्ट-सहन की यहां मनाही ही है, पर कोई भी सार्थक कष्ट तप त्याग और बलिदान यहां बड़ा नहीं है। यहां न हैवानियत है, न शैतानियत है। यहां न वृथा संतोष है, न असंतोष है। न यहा श्मशान-शांति है, न अशांति है। न यहां आत्म-समर्पण है, न असहयोग है। न यहां स्वत्वहीनता है और न यहां स्वत्व को परत्व पर बलात् या अनुचित रूप से आच्छादित करने की दुर्भावना या वासना है। परिस्थिति व आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन यहा उपादेय है पर यदि यह अव्यवहार्य रहा हो तो उसकी कमी पूरी करने के लिये क्रान्ति का मार्ग भी यहां प्रशस्त है। नियमतः साध्य-साधन की अनुकूलता यहां लक्ष्य है पर विषम परिस्थितियों में या असाधारण अवस्थाओं मे जब कि यह अनुकूलता बहुत ही महंगी पड़े, यहां तक कि साध्य ही पथ-भ्रष्ट होने लगे, तब जितनी कम से कम साध्य-साधन की बाहरी प्रतिकूलता अनिवार्य या अपरिहार्य हो, उसके लिये यहाँ द्वार बन्द नहीं हैं। कुतर्क, वितण्डावाद, उच्छृंखल बुद्धिवाद, कोरा ज्ञानवाद, ये सभी बहकाने वाली दिमागी कलाबाजियों की यहां कद्र नहीं है। अहिंसा अपने ऊपरी या अधूरे रूप में ही नहीं, अपनी पूर्णता के साथ, अपने विविध रूपों में, यहां वन्दनीय है और

आज की व्यवस्था मे जो कुछ हिंसात्मक है, भले ही वह परम्परागत हो, प्राचीन हो, उसे मिटाना और अहिंसात्मक व्यवस्था स्थापित करना यहाँ परम इष्ट है। सत्य यहाँ सदैव शिव व सुन्दर है। सत्य की 'कटुता' या 'कुरूपता' यहाँ सर्वथा अमान्य है। बाहरी ही नहीं, भीतरी नम्रता, सहृदयता या दयार्द्रता, सेवा परोपकार व न्याय की भावना, सहयोग सदाचार आत्मशुद्धि आदि की ऊंची दृष्टि तथा सभी अच्छाइयों के लिये यहां पूरा क्षेत्र है। यहां महामानव किसी समुदाय विशेष की बपौती नहीं है, वे सम्पूर्ण मानव-समाज की अमूल्य निधियाँ है। अति-स्वलाभ या औचित्य की सीमा से अधिक लाभ उठाने की लालसा यहां निषिद्ध है, भले ही उसके पीछे कितने ही लम्बे युग या विशाल जनमत का पीठ बल हो अथवा कैसा ही सुदृढ़ संगठन उसका अनुमोदन करता हो। मर्यादा-पालन के नाम पर सच्ची मानवीय मर्यादाओं का उल्लघन करना, वाह्य अपयश या राजदंड से डरकर व्यक्तित्व के भीतरी यश व सच्ची ज्योति को खोना, किसी भी कीमत पर अपनी आन को मिटाना और अपनी शान को धूल मे मिलाना यहां असहनीय है। यहां जितने भी छोटे-बड़े या सामयिक व क्षेत्रिक प्रश्न है, वे सभी इस तरह सुलझाये जाते है कि सामूहिक रूप मे वे मानव-जीवन की महान् समस्या को सुलझाने मे सहायक हों या मानव मात्र को लाभ पहुँचायें, न कि इस तरह कि एक ओर तो वे डोर को सुलझाये और दूसरी ओर

डोर ज्यादह उलझ जाय। अति या विकृति की पूरी रोकथाम है यहाँ। न यहां प्रवृत्ति की अति या भौतिक पदार्थों व बाह्य जगत मे अत्यधिक आसक्ति या भोगलिप्सा की वासना का बाहुल्य है और न निवृत्ति के नाम पर कर्त्तव्य-क्षेत्र से दूर भागने को, कायरता व भू-भार बन कर अकर्मण्यता, जड़ता व झूठी अहम्मन्यता मे पड़ने की, स्थिति ही यहां है। यहाँ कोई भी तत्व या सिद्धान्त, नियम या विधान मान्य है इसीलिए कि वह सत्य और कल्याण की साधना मे सहायक है, न कि इसलिये कि कोई व्यक्ति या ग्रथ विशेष उसका प्रतिपादन या अनुमोदन करता है। प्रमाणवाद यहां अश्रद्धेय है। यहां जीवन मे सन्तुलन है, समन्वय है। योग-भोग यहाँ परस्पर गुंथे हुये है। भक्ति ज्ञान और कर्म का संतुलित संयोग ही यहा श्रेय है। यहां प्रेम जीवन- मंत्र है, न्याय नीति है, सत्य ज्योति है, सेवा कार्यक्रम है, विवेक पथ-प्रदर्शक है, त्याग और बलिदान भुजाये है, शक्ति ढाल है और अहिंसा अस्त्र है। सारांश यह है कि जीवन के वे सभी तत्व जो मानव-व्यक्ति व मानव-समाज के लिये कल्याणकारी हैं, वे मानव संस्कृति में समाविष्ट है। सचमुच यह संस्कृति सदैव आगे बहती रहने वाली धारा है जिसका जल शुद्ध है, ताजा है और बहुत ही स्वास्थ्य-वर्द्धक है। संस्कृति की इस गंगा मे स्नान करने से व्यक्तित्व मंजता और निखरता है, जीवन धन्य होता है।

व्यवहार

रही संस्कृति की इस आदर्श-भावना के व्यावहारिक संस्करण की बात। निश्चय ही द्रव्य क्षेत्र काल आदि की विभिन्नत ये इस भावना के बाह्य प्रकटीकरण या बाह्याचरण में विभिन्नतायें लायेंगी ही। रहन-महन, खान-पान, वेश-भूषा, आदि के प्रश्न यहाँ रुचि-भेद तथा भौगोलिक व जलवायु-सम्बन्धी तथा अन्यान्य पारिस्थितिक विषमताओं से अपेक्षित होकर असंख्य विभिन्न नियम व विधान लायेंगे ही। व्यक्ति-समाज-सम्बन्ध व्यक्ति-व्यक्ति सम्बन्ध, नर नारी-सम्बन्ध तथा विवाह परिवार सन्तान नगर राष्ट्र आदि को लेकर समाज-व्यवस्था, शासन-व्यवस्था तथा अर्थ-व्यवस्था आदि की समस्याओं को सामने रखते हुये विभिन्न विचार-आचार मान्य होंगे ही। एक रूपता असम्भव है और मानव-जीवन या जीवन के तत्व में उसका कोई मेल ही नहीं है। अनेकता अनिवार्य है, यही नहीं, वह वांछनीय भी है। विविधता आनन्द-दायिनी है। जरूरत है अनेकताओं में एकता लाने की, विभिन्नताओं के बीच तादात्म्य स्थापित करने की। और, यह तभी सम्भव है जबकि मानव का अन्तर्लोक संस्कृति के उज्जवल प्रकाश से आलोकित हो अथव जबकि बाहरी विषमताओं के पीछे मानवीयता की एक रस धार प्रवाहशील हो। अनेकता के बीच एकता लाने पर मानव की विचार धारा, दृष्टि व भावना परिष्कृत होगी, मानवीयता की उसकी अनुभूति विशुद्ध सुविकसित व उच्च बनेगी और तब वह

मनुष्याकार एक मनुष्यत्व-विहीन जन्तु न रह कर, आकार के अनुकूल वास्तविक मनुष्य कहलाने का अधिकारी बन सकेगा। मनुष्यत्व की ऐसी उत्कृष्ट मनःस्थिति मे किसी भी व्यवहार या बाह्याचरण को लेकर या राष्ट्रीयता जातीयता आदि के प्रश्नों को अपेक्षित रख कर स्वकीय-परकीय की क्षुद्र भावना न होगी, मेरे-तेरे की खींचातानी न होगी बल्कि सुविधा, आवश्यकता व सुख या कल्याण का ही विचार होगा और एक दूसरे के पूरक बनने की या एक दूसरे को सहयोग देकर अपनी और दूसरों की भलाई करने की ही मनोवृत्ति यहाँ होगी। इस बाह्याचरण मे आदर्श पूरी तरह घटित हो, यह कल्पना का ही विषय है पर व्यवहार की दिशा इधर हो, यह कर्म का विषय है। अपूर्णता रहते हुये भी यहां व्यवहार और आदर्श मे कोई तात्विक या मौलिक भेद न होगा, केवल श्रेणी-भेद ही होगा। यहाँ आदर्श व्यवहार का पथ प्रदर्शन करेगा और व्यवहार यहां सदैव आदर्शोन्मुखी रह कर आदर्श की ओर बढ़ता रहेगा। आदर्श और व्यवहार के इस सुन्दर समन्वय या सामंजस्य मे ही बहिरंग अनेकता मे निहित अन्तरंग एकता का हम दर्शन कर सकेंगे और तभी सच्चे अर्थों मे संस्कृति की अनुभूति से हम अपने जीवन को, भावना व कृति मे, ऊपर उठा सकेंगे।

एक और अखण्ड मानवता

आज हम मानव का आकार रखते हुये भी भूल रहे है कि हम मानव है, सबसे पहले मानव हैं और तब और कुछ हैं पर

वह "और कुछ" होते हुये भी अमानवीय किसी भी हालत में नहीं है। संस्कृति के प्रश्न को लेकर तो हमने अपनी मानवता या मानवीयता का दिवाला ही निकाल दिया है। अहंकार, अधिकार की लिप्सा, शोषण की कुत्सित भावना तथा ऐसी अनेक कुवृत्तियों ने इस संस्कृति के प्रश्न को बहुत भ्रष्ट किया है और अभी भी ऐसा हो रहा है। जिसको भी देखिये, अपनी कल्पना की उड़ान में अपनी एक अलग संस्कृति की डींग मारता दिखाई देता है, प्रकृति के इस सत्य को कि मानव-मानव मूलतः एक है, आज का यह बहका हुआ मानव भूल गया है। जब तक एक और अखण्ड मानवता की अमर ज्योति से आलोकित होकर मानव के मानस-जगत में मानव-संस्कृति की विचार-धारा न बहेगी और उसके बाहरी जगत में उस विचार-धारा को सच्चा सम्मान या प्रतिष्ठा न मिलेगी, तब तक सच्चे अध्यात्मवाद की प्रतिष्ठा न हो सकेगी, मानव वास्तविक अर्थों में मानव न बनेगा और यह मानव जगत सुखी, समृद्धिशाली व सुव्यवस्थित न हो सकेगा।

इधर या उधर ?

अब तक के विवेचन से जो वस्तु-स्थिति स्पष्टतया हमारे समक्ष आती है वह यह है कि आज हम चौराहे पर खड़े हैं, बड़ा ही नाजुक जमाना है, राष्ट्र-पुनर्निर्माण का प्रश्न असंख्य प्रश्नों के साथ हमारे सामने खड़ा है, देवासुर-संग्राम छिड़ा हुआ है। एक ओर राष्ट्र को मानवता के आधार पर एक और अखण्ड बनाकर, शोषण व उत्पीड़न के विषैले वायुमंडल से दूर, मानवीय समानता व भ्रातृत्व के पुनीत आदर्श पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास हो रहा है और भारतीय राष्ट्र को सम्प्रदायातीत या धर्म-निरपेक्ष घोषित कर व तदनुकूल विधान ग्रहण कर इसी स्थिति को बनाए रखने की साधना की जा रही है। दूसरी ओर हिन्दू पद पादशाही व हिन्दूराष्ट्र के स्वप्न देखे जा रहे हैं और गो-ब्राह्मण की प्रतिष्ठा तथा वर्ण-भेद व पुरुष की ईश्वरीयता की मान्यता को असंख्य नर-नारियों पर थोप कर विशाल मानव-समुदाय के 'धर्मानुमोदित' शोषण का मार्ग प्रशस्त किया जा रहा है। किधर जाय और किधर न जाय, इसी द्विविधा में भारतीय राष्ट्रीयता है। ठीक दिशा में वह गई तो ठीक, अन्यथा सर्वनाश है। धर्म और संस्कृति की चिकनी-चुपड़ी बातों में आगई, प्राचीनता के मोह व अहंकार की दलदल में फंस गई, स्वकीयता के अहकार की मदिरा पी कर मदहोश हो गई और अध्यात्मवाद के उन्माद में

बहक कर पथ-भ्रष्ट हो गई, तो राष्ट्र पर शनिश्चर आ जायगा और विश्व-शान्ति को राहु लग जायगा। पर, वह इन भयानक लहरों में न बही, संभली रही, प्राचीन में से अमृत लेकर वर्तमान को पिला कर भविष्य को विवेक व सावधानी से पालती रही, खुली हवा में सांस लेकर हितकारी स्वत्व को अक्षुण्ण रखते हुए और परत्व से हितकारी तत्व लेते हुए और इस तरह सम्पूर्ण मानव-जगत से स्वास्थ्यकर तत्वों को ग्रहण कर व पचा कर फलती-फूलती रही, तथा आध्यात्मिकता के झूठे उन्माद में व भौतिकता के मोह-जाल में न फंस कर दोनों के संतुलन व सामंजस्य पर ही मानव-जीवन निर्धारित करते हुए यथार्थवाद को मान देती रही, तो राष्ट्र का कल्याण है, विश्व का त्राण है।

देखना है—हमारी भारतीय राष्ट्रीयता किधर जाती है ? इधर या उधर ?

